वैदिक धर्म

मार्गशीर्ष सं. २००२
जनवरी १९४६
क्रमांक ३१३

विषयसूची।

सपादक

प श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य

म ऑ से ५) रु, वी पी से ५।≈) रु

विदेशके लिये १५ शिलिंग।

इस अकका मू ॥) रु.



आझाद हिन्द सेनाके महाराणी
झासीकी लक्ष्मी दलकी कैप्टन्
डॉ० श्री लक्ष्मी स्वामीनाथन्

वैदिक धर्म

क्रमांक ३१३

वर्ष २७ | मार्गशीर्ष, विक्रमीय संवत् २००२, जनवरी १९४६ | अङ्क १

पापका निराकरण

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमित् भ्रातरं वा ।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् ॥

(ऋ० ५।८५।७)

"हे वरुण, श्रेष्ठ देव! जो अपराध हमने अपने बालमित्र, स्नेही, समान व्यवसायी, साथी, भाई, पडौसी, नित्यसंबंधी अथवा किसी हीनदीनके संबंधमें किया हो, अथवा कुछ पाप किया हो, उसको हमसे शिथिल कर, दूर कर, उससे हमें निर्दोष कर।"

मनुष्य जानबूझकर अथवा अनजानसे अनेक अपराध करता है। उनके करनेके समय उससे यह अपराध हो रहा है, इसका पता भी नहीं होता। पीछेसे पता लगा, तो उस समय उसके प्रतिकारका कोई उपाय नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय जो कुछ होना था वह बना होता है। मनुष्यकी किञ्चिज्ज्ञताके कारण ऐसा होना स्वाभाविक है, इसलिये इस मन्त्रमें प्रभुकी प्रार्थना की है कि 'मेरे ऐसे अपराधोंसे मेरा संबंध शिथिल करो और मुझे निर्दोष बनाओ।' प्रभुकी अन्तःकरणपूर्वक प्रार्थना करनेसेही यह शुद्धि हो सकती है। पाप होनेका अनुभव होतेही पश्चात्तापपूर्वक प्रभुकी प्रार्थना करनी चाहिये।

यह सब विश्वके कल्याणके लिये ही है !

अमेरिका, रशिया और इंग्लंद ये परम मित्र बनकर गत युद्धमें शत्रुसे लडे और ऐसी एकतासे लडे कि शत्रुको परास्त होना पडा ! ये कहते थे कि यह युद्ध विश्वके कल्याणके लिये लडा जा रहा है। जर्मनी, जापान और इटली परास्त हो चुके हैं। जर्मनी, जापान और इटली पाशवी शक्तिको बढाने-वाले थे, अपने पाशवी बलसे वे दूसरोंको दबा रहे थे, इस-लिये इन दोस्तोंने उनको परास्त किया। पर आश्चर्यकी बात यह है कि जिस पाशवी बलको बढानेके कारण जर्मनीके हिटलर आदि दोषी करके पुकारे गये, उसी पाशवी बलमें अमेरिका अत्यंत आगे बढी, इस कारण तीनों मित्रराष्ट्र पाशवी बलसे समर्थ हुए और अन्तमें जीत सके।

हिटलर जितना नाश छः मासमें कर सकता था, उतना नाश अमेरिका एक क्षणमें अण्वस्त्रसे अब कर सकती है, अर्थात् पाशवी बल जर्मनीसे अमेरिकाके पास लाख गुणा बढ गया है। इस कारण जगत्में पाशवी बल छः वर्ष पूर्वकी अपेक्षा आज बहुतही बढ गया है, फिर हिटलरके विचारोंका पराभव किस तरह हुआ ? हिटलर अमेरिका तथा रूसके रूपमें परिवर्तित हुआ, इतना ही सत्य है !

पाशवी बल जर्मनोंके पास रहनेसे वह हानिकारक और अंग्रेजोंके पास रहनेसे वह लाभदायक, ऐसा मानना कठिन है। जापानसे ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा, हिंदू चीन आदि सब पूर्वके देश मुक्त किये गये, पर वहाँ अंग्रेज आगये हैं ! जावामें तो देशभक्त सुकर्ण आदि वीरोंपर येही अंग्रेज बमकी वर्षा कर रहे हैं, क्योंकि वे स्वतन्त्र होना चाहते हैं और अंग्रेज उनको स्वतन्त्रता देना नहीं चाहते। जापानका पार-तंत्र्य बुरा और अंग्रेजोंके कारण होनेवाला पारतंत्र्य अच्छा ऐसा कौन कहेगा ? कई ऐसा कह सकते हैं कि जापानका आधिपत्य आशियावालोंका आधिपत्य था, युरोपीयनोंके नीचे दब जानेकी अपेक्षा आशियाके लोग आशियावालोंके नीचे दब जाना अधिक पसंद करेंगे। जो हो, इस समय तो जापानके अधिकारसे जो देश मुक्त हुए, वे यूरोपीयनोंके बंधनमें पड गये हैं !!

चीनने जापानका आधिपत्य माना नहीं और सात वर्ष युद्ध किया। इसका परिणाम अब यह हुआ कि उसके ऊपर अमेरिका, रूस और अंग्रेजोंकी हुकुमतकी छाया आगयी है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक जापानसे कई गुणा पाशवी बलमें अधिक है। अब चीन अत्यंत सन्तुष्ट हुआ होगा, क्योंकि जापान हार गया और वह जीत गया है ! पर वह अब इन तीनों विजेताओंको दूर करके अपने देशको किस तरह स्वतंत्र कर सकेगा ? यह एक देखनेयोग्य बात है।

जर्मनी और जापानमें जो कुछ विजेताओं द्वारा किया जा रहा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी उठनेकी संभावना भविष्यकालमें नहीं है। जर्मनीने जो कभी फ्रान्समें करनेका सोचा भी नहीं था, वह सब ये विजेता जर्मनीमें कर रहे हैं। जापानमें भी वैसाही हो रहा है। और यह सब इसलिये कि जगत्का स्थायी कल्याण हो !

इतिहासकी साक्षी इसके विरुद्ध है। मुगलोंने यहाँ कतलें थोडी नहीं की, पुस्तकालयोंका जलाना थोडा नहीं हुआ, मंदिर भी थोडे नहीं गिराये। तो भी अन्तमें भारतीय आर्यों-का उत्थान हुआ और यह प्राचीन इतिहास आर्योंका उत्साह बढानेके लिये स्थायी रहा है। यही इतिहासकी पुनरावृत्ति जर्मनी और जापानमें होगी।

मनुष्यत्वसे ही सबकी उन्नति होती है, पशुत्वको बढाने-का परिणाम ठीक नहीं होगा। पर विजेता क्यों सुनेंगे ?

ऋग्वेदकी ऋक्संख्या

(ले०- पं० युधिष्ठिरजी, मीमांसक, वेद-संशोधक, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर)

ऋग्वेदमें कितनी ऋचायें हैं, इस विषयका प्रतिपादन प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक विद्वानोंने किया है। परन्तु यह प्रश्न अभीतक भी रहस्यमय बना हुआ है। किन्हीं भी दो विद्वानोंकी ऋग्गणना परस्पर नहीं मिलती। प्राचीन आचार्यों की ऋग्गणना प्रायः ठीक होते हुए भी उनके गणना-प्रकारमें भेद होनेके कारण परस्परमें विभिन्नता प्रतीत होती है। आधुनिक विद्वानोंने प्राचीन आचार्योंकी गणना-प्रकारको भलीभांति न समझकर अनेक भयङ्कर भूलें की हैं। इस लेखमें उनकी भूलोंका निदर्शन कराते हुए ऋग्वेदकी सम्यक् ऋक्संख्या दर्शानेका प्रयत्न किया जायगा।

शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२३ में लिखा है—

स ऋचो व्यौहत द्वादशबृहतीसहस्राणि,-
एतावत्यो हर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः।

अर्थात् प्रजापतिने १२००० बृहती छन्दके प्रमाण ऋचायें उत्पन्न कीं। इतनी ही प्रजापति-सृष्ट समस्त ऋचायें हैं।

बारह सहस्र बृहती छन्दका १२००० × ३६ = ४३२००० अक्षर-परिमाण होता है।

शतपथके इस प्रकरणको भलीभांति देखनेसे विदित होता है कि यह अक्षरपरिमाण केवल ऋग्वेदकी ही ऋचाओं का नहीं है, अपितु वेदचतुष्टयान्तर्गत समस्त ऋचाओंका है। क्योंकि शतपथके इस प्रकरणमें त्रयी-विद्याका वर्णन करते हुए केवल ऋक्, यजुः, सामका ही छन्द-परिमाण लिखा है अथर्वका नहीं। वेदचतुष्टयके लिये त्रयी शब्दकी उपपत्ति आचार्य जैमिनिने निम्नप्रकार दर्शाई है—

यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्।
गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।
(मीमांसा अ० २ पा० १ सू० ३५-३७)

अर्थात् वेदचतुष्टयान्तर्गत जितने पादबद्ध मन्त्र हैं, वे ऋक्, गायनमन्त्र साम और गद्य मन्त्र यजुः कहाते हैं।

अनुवाकानुक्रमणीके अन्तमें भी ऋग्वेदका यही अक्षर-परिमाण लिखा हुआ है, परन्तु यह परिमाण किन ऋचाओं-का है, यह स्पष्ट नहीं है।

अनुवाकानुक्रमणीमें इससे पूर्व लिखा है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥ ४३

अर्थात् ऋग्वेदके पारायणमें समस्त ऋचाओंका १०५८० और १ पाद परिमाण है।

किन्हींका विचार है कि अनुवाकानुक्रमणीमें हुआ ४३२००० अक्षरपरिमाण ऋग्वेदकी समस्त शाखाओंमें पठित १०५८० और १ पाद ऋचाओंका है। हमें यह कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वालखिल्यरहित १०४७२ ऋचाओंका अक्षर-परिमाण ३९४२२१ होता है। यह अक्षरसंख्या पादपूर्त्यर्थ किये गये अक्षरव्यूह मानकर उपलब्ध होती है। अतः शेष १०८ और १ पाद ऋचाओंमें लगभग ३८ सहस्र अक्षर किसी प्रकार नहीं माने जा सकते। इस हेतुसे भी शतपथोक्त ४३२००० अक्षरपरिमाण वेद-चतुष्टयान्तर्गत समस्त पादबद्ध मन्त्रोंकाही समझना चाहिये।

अतः शतपथब्राह्मणमें ऋचाओंका द्वादशबृहतीसहस्र परि-माण लिखना ऋग्वेदकी ऋक्संख्या जाननेमें कुछ भी सहायक नहीं।

ऋग्वेदकी विशिष्ट ऋग्गणना-पद्धतिपर विचार करनेसे पूर्व ऋग्वेदकी विशिष्ट ऋग्गणनापद्धतिपर विचार कर लेना अत्यावश्यक है, जिसके यथार्थतया न समझनेके कारण समस्त आधुनिक विद्वानोंने ऋग्गणनामें अनेक भूलें की हैं।

ऋग्गणना और द्विपदा ऋचायें

ऋग्वेदमें कुछ मन्त्र ऐसे हैं जो किसी समय दो दो पाद-का एक एक मन्त्र माना जाता है और किसी समय चार-चार पादोंका एक मन्त्र गिना जाता है अर्थात् उस समय दो द्विपाद् मन्त्र एक चतुष्पाद् मन्त्र माना जाता है।

ऋग्वेदमें कुल १५७ द्विपदा ऋचायें हैं। इनमेंसे १७ नित्य द्विपदा ऋचाएं हैं, शेष १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं मानी जाती हैं अर्थात् ये १४० ऋचायें वस्तुतः द्विपदा ऋचाएं नहीं हैं, अपितु १४०÷२=७० चतुष्पदा ऋचाएं हैं, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'द्विपदा शंसति' वाक्योंद्वारा ये ऋचाएं द्विपदा बनाकर यज्ञमें विनियुक्त की जाती हैं, इसीलिये इन ७०×२=१४० द्विपदाओंका नैमित्तिक विशेषण उपपन्न होता है। इनके विषयमें ऋक्सर्वानुक्रमणीके परिभाषा-प्रकरणमें कहा है—

द्विर्द्विपदात्त्वृचः समामनन्ति।

इस सूत्रकी व्याख्या करता हुआ षड्गुरुशिष्य लिखता है—

ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचां कृत्वा समामनन्ति समामनेयुः अधीयीरन्। म्ना अभ्यासे, लिङर्थे लेट्, शपि मनादेशः। द्वे द्विपदे यासां ता ऋचो द्विद्विपदाः, समामनन्तीति वचनाच्छंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुम्' (ऋ० १।६५) इति शंसने दशर्चत्वम्, आसां चाध्ययने तु पञ्चत्वं भवति।

अर्थात् ऋचाओंके अध्ययन-कालमें अध्येता दो दो द्विपदाओंको एक एक ऋचा बनाकर अभ्यास करें। 'समामनन्ति' कहनेसे यज्ञान्तर्गत शंसन (स्तुति) कालमें दो द्विपदाओंकी एक ऋचा नहीं होती। इसलिये 'पश्वा न तायुम्' (ऋ. १।६५) सूक्त शंसनकालमें दश ऋचाओं का माना जाता है और ये ही दश ऋचाएं अध्ययनकालमें मानी जाती हैं।

सायणाचार्यने ऋ. १।६५ के भाष्यमें लिखा है-

तत्र पश्वेत्यादीनि षट्सूक्तानि द्वैपदानि। तेष्वध्ययनसमये द्विपदे द्वे द्वे ऋचौ चतुष्पदामेकैकां कृत्वा समाम्नायते। अयुक्संख्यासु तु यान्त्यातिरिच्यते सा तथैवाम्नायते। प्रायेणार्थोऽपि द्वयोर्द्विपदयोरेक एव। प्रयोगे तु ताः पृथक् पृथक् शंसनीयाः। सूत्र्यते हि-पश्वा न तायुम् (ऋ. १।६५) इति द्वैपदम्, आश्व० ८।१२ इति।

अर्थात्- 'पश्वा' (ऋ. १।६५-७०) इत्यादि ६ सूक्त द्वैपद हैं। अध्ययनकालमें दो दो द्विपदाओंकी एक एक चतुष्पदा ऋचा बनाकर पढी जाती है। विषम संख्याओंमें जो शेष बच जाती है वह द्विपदा ही पढी जाती है। प्रायः करके अर्थ भी दो दो द्विपदाओंका एक ही है। प्रयोग (यज्ञ) कालमें उनका पृथक् पृथक् (द्विपदा करके) शंसन होता है। आश्वलायन श्रौत० ८।१२ में भी 'पश्वा न तायुम्' (ऋ. १।६५) सूक्त द्विपदारूपसे विनियुक्त है।

अत एव महीदासने भी लिखा है- 'हवन एकैका अध्ययने द्वे द्वे आमनन्ति' (पृ० १५) अर्थात् हवनकालमें द्विपदा एक ऋचा मानी जाती है और अध्ययनकालमें दो दो द्विपदा मिलकर एक ऋचा बनती है।

यहाँ यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी चाहिये कि कात्यायनने ऋक्सर्वानुक्रमणीमें जो प्रतिसूक्त मन्त्रसंख्या लिखी है उसमें उसने इन १४० नैमित्तिक द्विपदाओंकी द्विपदा ऋचा मान कर ही गणना की है। अतः कात्यायनके मतमें 'पश्वा न तायुम्' (ऋ. १।६५) सूक्त दशर्च ही है। मैक्समूलरके ऋक्संस्करण तथा तदाश्रित अन्य संस्करणोंमें इस सूक्तमें १० द्विपदाओंको ५ चतुष्पदा मान कर छापा है।

नैमित्तिक द्विपदाओंकी गणना

ऋग्वेदमें जो १४० नैमित्तिक द्विपदाएं हैं, उनका संग्रह चरणव्यूहके टीकाकार महीदासने निम्न प्रकार दर्शाया है-

'पश्वा न तायुम्' (ऋ. १।६५।१-१०) दश, रयिर्न (१।६६।१-१०) दश, वनेषु (ऋ. १।६७।१-१०) दश, श्रीणन् (ऋ० १।६८।१-१०) दश, शुक्रः शुशुक्वान् (ऋ. १।६९।१-१०) दश, वनेम पूर्वीः (ऋ. १।७०।१-१०) दश, अग्ने त्वं नः (५।२४।१-४) चत्वारि, अग्ने भव (ऋ. ७।१७।१-६) षट्, प्र शुक्रैतु (ऋ० ७।३४।१-१०) दश, राजा राष्ट्रानां (ऋ० ७।३४।११-२०) दश, क ईं व्यक्ता (ऋ० ७।५६।१-१०) दश, नक्ष्रेकाः (ऋ० ८।९९।१-१०) दश, परि प्र धन्व (ऋ० ९।१०९।१-१०) दश, तं ते सोतारः (ऋ. ९।१०९।११-२२) द्वादश, इमा नु कं (ऋ. १०।१५७।१-४) चत्वारि, आ याहि वनसा (ऋ. १०।१७२।१-४) चत्वारि, इति नैमित्तिकद्विपदाश्चत्वारिंशोत्तरशतमिति १४० ॥' (चरणव्यूह-परिशिष्ट पृ० १५)

इनसे अतिरिक्त १७ नित्य द्विपदा ऋचाओंका उल्लेख उपलेखसूत्र (वर्ग ६।१-२) में मिलता है।

इस प्रकार ऋग्वेदमें कुल १७+१४०=१५७ नित्य नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं हैं।

आचार्य कात्यायनने ऋक्सर्वानुक्रमणीमें जो प्रतिसूक्त ऋक्संख्या लिखी है, उनमें इन १४० नैमित्तिक द्विपदाओंको द्विपदा मानकरही गिना है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

मैक्समूलरका ऋक्संस्करण और द्विपदा ऋचाएं

मैक्समूलरने सन् १८७३ में ऋग्वेदमूलका प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। यह संस्करण वस्तुतः उसके महान् परिश्रमका फल है, जो किसी भी संपादन-कलाभिज्ञ पाठकसे छिपा नहीं है। इतना होते हुए भी यह निःसंकोच कहना पडेगा कि इसमें कुछ दोष रह गये। सबसे महान् दोष नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओंके मुद्रणमें हुआ है, जिसके फल-स्वरूप उत्तरवर्ती अनेक विद्वानोंसे भयङ्कर भूलें हुई हैं।

मैक्समूलरने अपने मूल ऋग्वेदके संस्करणमें ऋ० मं० १ सूक्त ६५-७० तक की ६० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओंको ३० चतुष्पदा ऋचा बनाकर छापा है * और प्रति चतुष्पदा मन्त्रसंख्या दी है। पञ्चम मण्डलकी २४ वें सूक्तकी ४ द्विपदा ऋचाओंको दो चतुष्पदा बनाकर प्रथम ऋचाओंके अन्तमें १।२ और द्वितीय ऋचाके अन्तमें ३।४ संख्या छपी है। शेष मण्डलोंकी अवशिष्ट ७६ नैमित्तिक ऋचाओंको द्विपदा-रूपमें ही छापा है। इस प्रकार नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओंको छापनेमें मैक्समूलरने तीन प्रकार आश्रित किये हैं, जो कि सर्वथा अयुक्त हैं। इससे यह भी विदित होता है कि मैक्समूलरको इन १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओंके वास्तविक स्वरूपमें महान् संदेह था।

मैक्समूलरकी यह भूल उसके संस्करण तकही सीमित रहती, तो भी कुछ विशेष हानि न थी, परन्तु उसके संस्करण-को प्रामाणिक मानकर तदुत्तरवर्ती अनेक विद्वानोंने भयंकर भूलें की हैं, जिनका निदर्शन हम यथास्थान करायेंगे।

अनुवाकानुक्रमणी और ऋक्संख्या

शौनकने अपनी अनुवाकानुक्रमणीमें दो स्थानोंपर ऋक्-संख्याका उल्लेख किया है। प्रथम- श्लोक ४०, ४१, ४२ में ऋग्वेदीय वर्ग-संख्याका निर्देश करते हुए प्रतिवर्ग जो ऋक्संख्या लिखी है, वह निम्न प्रकार है—

प्रतिवर्ग ऋक्संख्या		वर्गसंख्या		समस्त ऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	९७	=	२९१
४	×	१७४	=	६९६
५	×	१२०७	=	६०३५
६	×	३४६	=	२०७६
७	×	११९	=	८३३
८	×	५९	=	४७२
९	×	१	=	९
		२००६		१०४१७

तदनुसार ऋग्वेदमें २००६ वर्ग और १०४१७ ऋचायें होती हैं। शौनकके मतानुसार यह ऋक्संख्या शाकल-चरणान्तर्गत शैशिरीय शाखाकी है। इसमें वालखिल्य ऋचायें सम्मिलित नहीं हैं और नैमित्तिक द्विपदाओंका भी द्विपदा रूपसे परिगणन नहीं है। वर्तमान ऋग्वेदमें वाल-खिल्य ऋचाओंको छोडकर वर्गसंख्या २००६ ही है, परन्तु मन्त्रसंख्या १०४०२ (नैमित्तिक द्विपदा-गणनानुसार १०४७२ संख्या) होती है। इस प्रकार १५ ऋचाओंका + भेद होता

* मैक्समूलर-संपादित ऋग्वेद-सायणभाष्य द्वितीय संस्करण (सन् १८९०) में प्रतिचतुष्पदा ऋचाके आगे दुगुनी संख्या (१।२, ३।४ इत्यादि) उपलब्ध होती है जो कि ठीक है। सायणभाष्यके प्रथम संस्करणमें किस प्रकार छपा था सो हमें ज्ञात नहीं॥

\+ १५ संख्याका आधिक्य देखकर शैशिरीय शाखामें संज्ञान सूक्तका समावेश नहीं समझना चाहिये। क्योंकि संज्ञान सूक्तका समावेश होनेसे उसके ४ वर्गोंका भी समावेश मानना होगा, वैसा करनेपर वर्ग-संख्या २००६ न होकर २०१० हो जायगी।

है, वह शाखाकृत समझना चाहिये।

इसके आगे 'ऋचां दशसहस्राणि' आदि पूर्वोद्धृत श्लोकमें १०५८० और १ पाद ऋक्संख्या लिखी है। इस वचनमें 'पारणं' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। तदनुसार १०५८० और १ पाद ऋक्परिमाण ऋग्वेदकी समस्त शाखान्तर्गत ऋचाओंका होगा। इसका संकेत लौगाक्षि स्मृतिमें मिलता है। जो कि निम्न प्रकार है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीति पादश्च पारायणविधौ खलु॥
पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्तसूत्रगाः।
मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः॥

(वैदिक वाङ्मयका इतिहास, भाग १, पृ० १३४)

चरणव्यूहपरिशिष्टमें भी लिखा है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीति पादश्चैतत् पारायणमुच्यते॥ पृ.११

इसकी टीका करता हुआ महीदास लिखता है—

अथ पारायणे ऋक्परिमाणा उच्यन्ते ...
एतत् पारायणं वालखिल्यैर्विना संख्यातम्।
वालखिल्यानि पारायणे न सन्ति। (पृ० १४)

अर्थात् ऋग्वेदके पारायणमें १०५८० और १ पाद परिमाण होता है। इस संख्यामें वालखिल्य मन्त्र संमिलित नहीं हैं।

महीदासका १०५८० और १ पाद ऋक्परिमाणमें वालखिल्य ऋचाओंका समावेश न मानना भूल है। क्योंकि वालखिल्य संज्ञक ११ सूक्त ऋग्वेदका अंश है। हां, इतना अवश्य है कि शाखान्तरोंमें इनकी गणना न्यूनाधिक है। महीदासके पूर्वोक्त लेखमें पूर्वापरविरोध भी है। वह स्वयं आगे लिखता है—

सूक्तसहस्रसप्तदशाधिकादष्टौ सूक्तानि बाष्कलस्याधिकानीत्यर्थः। प्रति ते, युवं देवाः, यमृत्विजः, इमानि वाम्, इति चतुर्णां वालखिल्यसूक्तानां लोप इत्यर्थः॥ (पृ० २२)

अर्थात्–(शैशिरिशाखान्तर्गत) १०१७ सूक्तोंकी अपेक्षा बाष्कल शाखामें ८ सूक्त अधिक हैं। वालखिल्य सूक्तोंमेंसे 'प्रति ते, युवं देवाः, यमृत्विजः, इमानि वाम्, इन चार सूक्तोंका बाष्कलशाखामें लोप समझना चाहिये, अर्थात् बाष्कलमें शैशिरि शाखाकी अपेक्षा ७ वालखिल्य और १ संज्ञान (८-८) सूक्त अधिक समझने चाहिये।

इस उद्धरणमें महीदासने स्वयं बाष्कलशाखामें ७ वालखिल्य सूक्त गिने हैं। ये सूक्त बाष्कलके ७ परिशिष्ट नहीं हैं, अपितु उसके अंश हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। अतः वालखिल्य ऋचाओंको १०५८० और १ पाद ऋक्परिमाणसे पृथक् समझना महीदासकी महती भूल है।

छन्दःसंख्या और ऋग्गणना

छन्दःसंख्या-संज्ञक एक प्राचीन परिशिष्ट उपलब्ध होता है। इसमें कुल ११ श्लोक उपलब्ध होते हैं। उसके प्रारम्भके १० श्लोकोंमें गायत्र्यादि पृथक् पृथक् छन्दोंके अनुसार ऋक्संख्याका उल्लेख है। वे श्लोक निम्न प्रकार हैं—

एकपञ्चाशदृग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके।
सहस्रद्वितयं चैव चत्वार्येव शतानि तु॥१॥
त्रीणि शतानि सैकानि चत्वारिंशत्तथोष्णिहः।
अनुष्टुभां शतान्यष्टौ पञ्चाशत् पञ्चसंयुता॥२॥
बृहतीनां शतं ज्ञेयमेकाशीत्यधिकं बुधैः।
शतानि त्रीणि पंक्तीनां द्वादशाभ्यधिकानि तु॥३॥
पञ्चाशत् त्रिष्टुभः प्रोक्तास्तिस्रश्चैव ततोऽधिकाः।
सहस्राण्येव चत्वारि विज्ञेयं तु शतद्वयम्॥४॥
चत्वारिंशत्तथाष्टौ च तथा चापि शतत्रयम्।
जगतीनामियं संख्या सहस्रं तु प्रकीर्तितम्॥५॥
दशैवात्यतिजगत्योऽपि तथा सप्त न संशयः।
शक्वर्योऽपि तथैवोक्तास्तथा नव विचक्षणैः॥६॥
नव चैवातिशक्वर्यः षडष्ट्यः प्रकीर्तिताः।
अशीतिश्च चतस्रश्च तथात्यष्टि ऋचः स्मृताः॥७॥
धृतिद्वयं विनिर्दिष्टमेकातिधृतिरेव च।
एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दश सप्त च॥८॥
प्रगाथा बार्हता येऽत्र तेषां शतमुदाहृतम्।
चतुर्नवतिरेवोक्तास्तद्वद् द्व्यृचास्त्वसंशयः॥९॥
काकुभानां तु पञ्चाशत् विज्ञेया पञ्चसंयुता।
महाबार्हत एवैकः एवं सार्धशतद्वयम्॥१०॥
एवं दश सहस्राणि शतान्यं च चतुष्टयम्।
ऋचां द्व्यधिकमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ११

इन श्लोकोंके अनुसार ऋग्वेदमें गायत्री २४५१, उष्णिक् ३४१, अनुष्टुप् ८५५, बृहती १८१, पंक्ति ३१२, त्रिष्टुप् ४२५३, जगती १३४८, अतिजगती १७, शक्करी १९, अतिशक्करी ९, अष्टि ६, अत्यष्टि ८४, धृति २, अतिधृति १, एकपदा ६, द्विपदा १७, बार्हत प्रगाथ १९४, काकुभ प्रगाथ ५५, महाबार्हत प्रगाथ १ छन्द हैं। इस प्रकार तत्त्ववेदी महर्षियोंने ऋग्वेदकी समस्त ऋचाओंकी समस्त संख्या १०४०२ कही है।

छन्दःसंख्या उल्लिखित ऋग्गणनाके विषयमें पं० सत्यव्रत सामश्रमीने ऐतरेयालोचन पृ० १४३ पर लिखा है—

छन्दःसंख्योल्लिखितोक्तसर्वसंकलनसंख्या तु प्रतिच्छन्दःसंख्यातोऽपि विरुद्धैव प्रतीयते। तद्यथा तथोक्तं श्लोकैः-गायत्र्यः २४५१, उष्णिहः ३४१, अनुष्टुभः ८५५, बृहत्यः १८१, पंक्तयः ३१२, त्रिष्टुभः ४२५३, जगत्यः १३४८, अतिजगत्यः १७, शक्कर्यः ९, अतिशक्कर्यः ९, अष्टयः ६, अत्यष्टयः ८४, धृत्यौ २, अतिधृति १, द्विपदा १७, एकपदा ६, बार्हतप्रगाथाः १९४, ककुभ्प्रगाथाः ५५, महाबार्हतप्रगाथः १, तदेवं तदुक्तप्रतिच्छन्दःसंख्यानां संकलनया १०१४२ ऋचः स्युः, पूर्वप्रदर्शितश्लोकस्तु गम्यन्ते १०४०२। तदत्र प्रायः सर्वत्र संकलनभ्रमोऽस्माभिर्ग्रन्थदृष्ट्या प्रमाणित एव ॥

अर्थात् छन्दःसंख्या नामक श्लोकमें कही हुई सब छन्दोंकी संख्याओंका संकलन भी (अन्तिम) श्लोक प्रतिपादित छन्दःसंख्यासे विरुद्ध ही प्रतीत होता है। जैसा कि श्लोकोंमें कहा है गायत्री २४५१... शक्करी ९+ इस प्रकार प्रतिच्छन्द निर्दिष्ट संख्याओंका संकलन करनेसे १०१४२ ऋचायें होती हैं। पूर्व प्रदर्शित (११ वें) श्लोकसे १०४०२ ऋक्संख्या जानी जाती है। इस प्रकार सर्वत्र संकलन-भ्रम हमने ग्रंथोंसे प्रमाणित कर दिया॥

पं० सत्यव्रत सामश्रमीके इस लेखपर हमें अत्यन्त आश्चर्य होता है कि अन्य आचार्योंके दोष दर्शानेका दुःसाहस और उनका उपहास करनेवाले सत्यव्रत सामश्रमीको छन्दःसंख्याके इन साधारण श्लोकोंका भाव भी भलीभांति समझमें नहीं आया। किसीने सत्य कहा है—

परेषां तिलमात्राणि छिद्राणि परिपश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

पं. सत्यव्रत सामश्रमीने इन श्लोकोंके समझमें दो भूलें की हैं। प्रथम— छठे श्लोकके उत्तरार्धमें दो बार 'तथा' शब्दका प्रयोग है, प्रथम 'तथा' शब्द पूर्वार्धगत अतिजगती की गणनाका निर्देशक है, दूसरा 'तथा' शब्द पूर्वोक्त १० संख्याका समुच्चायक है। श्लोकका भाव यह है- जैसे अतिजगतीकी संख्या १०+७ = १७ कही है, वैसे ही शक्करीमें भी पूर्वसंख्या १० और उत्तर संख्या ९ समझनी चाहिये, अर्थात् शक्करी छन्दकी १९ ऋचायें हैं। सत्यव्रत सामश्रमीने 'शक्कर्योऽपि तथैवोक्ताः' चरणका भाव न समझ कर शक्करी छन्दकी केवल ९ ऋचायें ही गिनी हैं। दूसरी भूल— प्रगाथोंकी संख्याका निर्देश करते हुए ९ वें श्लोकमें स्पष्ट कहा है कि ये प्रगाथ द्व्यृच हैं। अतः इन १९४+५५+१ = २५० प्रगाथोंकी ५०० ऋचाएं गिनबी चाहिये। ऋक्सर्वानुक्रमणीके परिभाषा-प्रकरणमें भी स्पष्ट कहा है कि बार्हत प्रगाथ= बृहती और सतोबृहती, काकुभ प्रगाथ = ककुप् और सतोबृहती तथा महाबार्हत प्रगाथ= महाबृहती और महासतोबृहती संज्ञक छन्दोंके योगका नाम है। सत्यव्रत सामश्रमीने इस साधारणसी बातको न समझ कर २५० प्रगाथोंकी २५० ही ऋचाएं गिन लीं। इस प्रकार इस छन्दःसंख्याकी दोनों गणनाओंमें कोई भी परस्पर-विरोध नहीं है।

पं० हरिप्रसाद वैदिक मुनिने भी छन्दःसंख्योक्त ऋग्गणनाको ठीक प्रकारसे नहीं समझा। यहाँ उन्होंनेभी पं० सत्यव्रत सामश्रमीका ही अनुकरण किया है। देखो, वेद-सर्वस्व पृ० ६५, ६६। अतः उनके लेखमें भी पूर्वोक्त भूलें समझनी चाहिये।

छन्दःसंख्या और द्विपदाएं

यहाँ ध्यान रहे कि छन्दःसंख्योक्त १०४०२ ऋचाओंमें १४० द्विपदाएं चतुष्पदा बना कर ७० ऋचायें गिनी गई हैं। अतएव यहाँ जो १७ द्विपदायें गिनी हैं, वे नित्यद्विपदा

+ यहां प्रतिच्छन्द मन्त्रसंख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये। सत्यव्रत सामश्रमीने केवल शक्करी छन्दकी मन्त्रसंख्या १९ के स्थानमें ९ लिखी है।

ऋचाएं हैं और यदि ७० चतुष्पदाओंको ७०×२ = १४० नैमित्तिक द्विपदा गिना जायगा, तो कुल ऋक्संख्या १०४७२ होगी। इसी प्रकार छन्दःसंख्योक्त पूर्व ऋग्गणनामें ८० वालखिल्य मन्त्रोंका भी समावेश नहीं है। सम्भव है छन्दःसंख्या शैशिरि-शाखा परिशिष्ट हो। क्यों कि हम पहले लिख चुके हैं कि शैशिरि-शाखामें वालखिल्य मन्त्र नहीं हैं।

प्रो. मैकडोलनने ऋग्वेदमें १२७ द्विपदा ऋचायें गिनी हैं। उसकी गणनामें जो भूल है, उसे आगे व्यक्त किया जायगा। उन्होंने छन्दःसंख्यामें द्विपदाओंकी केवल १७ संख्या देख कर कल्पना की है कि छन्दःसंख्योक्त द्विपदा संख्यामें मध्यवर्ती दो संख्या नष्ट हो गई है। अर्थात् १२७ के स्थानमें १७ भूलसे लिखी गई है। (देखो, ऋक्सर्वानुक्रमणीकी भूमिका, पृ० १८)

प्रो० मैकडोनलकी यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि हम ऊपर सप्रमाण दर्शा आये हैं कि ऋग्वेदमें १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचायें हैं और १७ नित्य। छन्दःसंख्यामें केवल नित्यद्विपदाओंकाही उल्लेख है। सम्भव है मैकडोनलने स्वयं अशुद्ध गिनी हुई १२७ द्विपदा संख्याकी छन्दःसंख्योक्त १७ द्विपदा संख्यामें आद्यन्त संख्या (१ और ७ की) की समानता देखकर यह कल्पना की होगी।

ऋक्सर्वानुक्रमणी और ऋक्संख्या

आचार्य कात्यायनने ऋक्सर्वानुक्रमणीमें प्रतिसूक्त जो ऋक्संख्या लिखी है, उसका योग करनेपर वालखिल्य सूक्तोंके विना १०४७२ ऋचाएं होती हैं†। ११ वालखिल्य सूक्तोंके ८० मन्त्र मिलानेपर १०५५२ ऋक्संख्या उपलब्ध होती है। इस संख्यामें नैमित्तिक द्विपदाएं सम्मिलित हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणीके टीकाकार जगन्नाथके मतमें भी १०५५२ ऋचाएंही हैं।

चरणव्यूहके टीकाकार महीदासका भी यही निर्णय है। वह लिखता है-

वालखिल्यसहिता सर्वानुक्रमणीयमन्त्ररूपी-संख्या उच्यते। द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशत-दशसहस्राणीति (१०५५२)। वालखिल्यव्यतिरिक्तसंख्या तु द्विसप्तत्यधिकचतुःशतदशसहस्र ऋक् (१०४७२)। एतत् संख्या नित्य-द्विपदा-नैमित्तिक-द्विपदासहिता। (पृ० १५)

अर्थात् वालखिल्यसहित सर्वानुक्रमणीनिर्दिष्ट मन्त्रसंख्या १०५५२ है। वालखिल्यके विना १०४७२। इस संख्यामें नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकारकी द्विपदा ऋचाएं सम्मिलित हैं।

वेंकटमाधव और ऋक्संख्या

वेङ्कटमाधवने ऋग्वेदके लघुभाष्यके ५ वें अष्टकके ५ वें अध्यायके उपोद्घातमें ऋग्वेदकी ऋक्संख्याका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

शतैश्चतुर्भिरधिकमयुतं गणितं मया।
द्वे च यान्यतिरिच्येते द्विपदाश्चात्र संगताः॥ ११॥
पृथग्यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका।
चतुःशतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम्॥ २१॥

अर्थात् मैने ऋग्वेदमें १०४०२ ऋचाएं गिनी हैं। इनमें द्विपदाएं संमिलित हैं। जब द्विपदाएं पृथक् गिनी जाती हैं, तब १०४८० ऋचाएं होती हैं।

यहां नैमित्तिक द्विपदाओंको चतुष्पदा मानकर जो १०४०२ ऋक्संख्या लिखी है, वह ठीक है। परन्तु जब द्विपदाएं पृथक् गिनी जावें तब केवल नैमित्तिक द्विपदाओंकी ही ७० संख्या बढेगी, जो पहिली गणनामें चतुष्पदा गिनी गई हैं। अतः १४० द्विपदाओंकी आधी संख्या ७० बढानी ही ठीक है, इसलिए १०४७२ के स्थानमें १०४८० संख्या लिखना भूल है।

वेंकटमाधवकी भूलका कारण

हम ऊपर कह आये हैं कि ऋग्वेदमें १४० नैमित्तिक और १७ नित्य अर्थात् समस्त १५७ द्विपदाएं हैं। गणनाभेदसे केवल नैमित्तिक द्विपदाजन्यही संख्या बढेगी, नित्य द्विपदाओंकी संख्या तो वही रहेगी। प्रतीत होता है कि वेङ्कटमाधवने १०४०२ संख्यामें भूलसे समस्त १५७ द्विपदा-

† ऋक्सर्वानुक्रमणीके दो तरहके पाठ उपलब्ध होते हैं। एक पाठमें वालखिल्य ऋचाओंके ऋषिदेवताछन्दका निर्देश मिलता है, दूसरे पाठमें नहीं मिलता। अतएव यहां पृथक् निर्देश किया है।

ओंमेंसे १५६ युग्म ऋचाओंकी (१५६÷२=) ७८ चतुष्पदा ऋचाएं सम्मिलित समझ लीं, अतएव जब उसने द्विपदाओंको पृथग् गिना, तब पूर्वोक्त १४०÷२=७० के स्थानमें ७८ संख्याको द्विगुणित कर दिया जो कि प्रत्यक्ष महती भूल है।

इसके आगे २३, २४, २५ श्लोकोंमें वेङ्कटमाधव वर्गानुसार ऋक्संख्याका उल्लेख करता है जो कि निम्न प्रकार है—

प्रतिवर्ग ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	ऋक्संख्या
१	१	१
२	२	४
३	९९	२९७
४	१७५	७००
५	१२०९	६०४५
६	३४३	२०५८
७	१२१	८४७
८	५४	४३२
९	२	१८
	२००६	१०४०२

तदनुसार ऋग्वेदमें २००६ वर्ग और १०४०२ ऋचाएं होती हैं। वर्गसंख्या तो अनुवाकानुक्रमणीसे मिलती है। परन्तु प्रतिवर्ग निर्दिष्ट मन्त्रसंख्यामें पर्याप्त भेद है। हां वेङ्कटमाधवकी दोनों ऋक्संख्याएं आपसमें अवश्य मिलती हैं। अतएव वह आगे लिखता है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।
ऋचामशीतिपादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ॥

अर्थात्— अनुवाकानुक्रमणी आदिमें ऋग्वेदकी जो १०५८० और १ पाद ऋग्गणना लिखी है, वह ठीक नहीं है।

वेङ्कटमाधवने केवल स्वसंख्यात ऋक्संख्याके आधारपर ही १०५८० और १ पाद ऋक्संख्याको अशुद्ध बताया है, परन्तु उसने 'पारणं' पद पर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया, अन्यथा वह इस संख्याको अशुद्ध कहनेका साहस न करता।

महीदास और ऋक्संख्या

चरणव्यूहके टीकाकार महीदासने ऋग्वेदकी ऋग्गणनाके विषयमें कुछ विस्तारसे लिखा है। परन्तु ग्रन्थ अत्यधिक अशुद्ध मुद्रित होनेके कारण अनेक स्थानोंमें वास्तविक अभिप्राय समझमें नहीं आता। तथापि उसके ग्रन्थसे ऋग्वेदकी ऋग्गणनासम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें विदित होती हैं।

महीदासके मतमें ऋग्वेदमें वालखिल्यसहित १०५५२ ऋचाएं हैं। वालखिल्यके विना १०४७२। इनमें नित्य नैमित्तिक दोनों प्रकारकी द्विपदाएं सम्मिलित हैं। देखो पृ० १५

आगे पृ० १८ पर १०५८० और एक पाद ऋक्संख्याकी उपपत्ति दर्शाई है, परन्तु ग्रन्थके अशुद्ध होनेके कारण पूर्णतया समझमें नहीं आई, अतएव हम उसे यहां उद्धृत नहीं करते।

आगे महीदास ऋग्वेदके वर्गों तथा ऋचाओंकी संख्या प्रदर्शक कुछ श्लोक उद्धृत करता है, जो कि निम्न प्रकार हैं—

एकर्चं एकवर्गश्च एकर्चः नवकस्तथा ।
द्वौ वर्गौ द्व्यृचौ ज्ञेयौ ऋक्त्रयस्य शतं स्मृतम् ॥
चतुर्ऋचां पञ्चसप्तत्यधिकं च शतं तथा।
पञ्चर्चं तु द्विशतकं सहस्रं रुद्रसंयुतम् ॥
पञ्चचत्वार्यधिकं तु षड् ऋचां तु शतत्रयम् ।
सप्तऋचां शतं ज्ञेयं विंशतिश्चाधिकाः स्मृताः ॥
अष्ट ऋचां तु पञ्चाशत् पञ्चाधिकास्तथैव च ।
एवं दशाधिकसहस्रद्वयवर्गा इत्यर्थः
पञ्चशाखासु निश्चिताः ॥
वर्गाः संज्ञानसूक्तस्य चत्वारश्चात्र मीलिताः ।
एवं पारायणे प्रोक्ता ऋचां संख्या न न्यूनतः ॥
(पृ० २०-२१)

प्रतिवर्ग ऋक्संख्या		वर्गसंख्या		ऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	१००	=	३००
४	×	१७५	=	७००
५	×	१२११	=	६०५५
६	×	३४५	=	२०७०
७	×	१२०	=	८४०
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
		२०१०		१०४१९

यह वर्गसंख्या शाकल आदि पांच शाखाओंकी है, इसमें संज्ञानसूक्तके ४ वर्ग सम्मिलित हैं। इसी प्रकार १०४१९ मन्त्रसंख्यामें संज्ञानसूक्तकी १५ ऋचाओंका भी समावेश है। उन्हें कम करनेपर १०४०४ ऋक्संख्या उपलब्ध होती है, जो कि पूर्वोक्त ऋक्संख्यासे २ संख्या अधिक है।

शौनक, वेङ्कटमाधव और महीदासने वर्गान्तर्गत ऋक्संख्यानुसार जो वर्गसंख्या लिखी है, उसमें परस्पर पर्याप्त विभिन्नता है। इनमेंसे किसकी संख्या शुद्ध है यह हम नहीं कह सकते, क्योंकि हमने अभीतक पूर्वोक्त प्रकारसे वर्गसंख्याकी गणना नहीं की है।

स्वामी दयानन्द और ऋक्संख्या

स्वामी दयानन्द सरस्वतीने ऋग्वेदभाष्यके उपोद्घातमें ऋग्वेदकी ऋक्संख्याका उल्लेख किया है। उन्होंने प्रतिमण्डल जो ऋक्संख्या लिखी है, उसका योग निम्न प्रकार होता है—

१९७६+४२९+६१७+५८९+७२७+७६५+८४१+१७२६+१०९७+१७५४ = १०५२१

इस प्रतिमण्डल ऋक्संख्यामें लेखक-प्रमादसे दो अशुद्धियाँ हुई हैं। प्रथम— ऋग्वेदके आठवें मण्डलके २४ वें सूक्तकी मन्त्रसंख्या २६ के स्थानपर ३६ लिखी है, अतएव उसका योग भी १७१६ के स्थानपर १७२६ हो गया है। अर्थात् यहां १० संख्या अधिक गिनी गई है। वस्तुतः इस मण्डलकी १७१६ ऋक्संख्या होनी चाहिये। द्वितीय–नवम मण्डलकी प्रतिसूक्त लिखित संख्याके योगमें ११ संख्या न्यून है। योग करते समय किसी सूक्तकी ११ ऋचाएं गिननेसे रह गईं, अतः इस मण्डलकी ऋचाओंका योग १०९७ के स्थानमें ११०८ होना चाहिये। इस प्रकार यदि अष्टम और नवम मण्डलके योगको शुद्ध कर लिया जाय तो पूर्ण योग १०५२२ होगा।

यह योग मैक्समूलरके ऋक्संस्करणके अनुसार है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि मैक्समूलरके ऋक्संस्करणमें प्रथम मण्डलकी ६० नैमित्तिक द्विपदाएं इ० चतुष्पदाएं बना कर छापी गई हैं, अतः १०५२२ में प्रथम मण्डलस्थ द्विपदाओंकी शेष ३० संख्या और सम्मिलित कर ली जाये तो सर्वयोग १०५५२ होगा। इसमें नित्य नैमित्तिक द्विपदाएं और वालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित हैं। यह संख्या महीदास, जगन्नाथ, ऋक्सर्वानुक्रमणी और छन्दःसंख्योक्त ऋक्संख्यासे पूर्णतया मिल जाती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीने प्रतिमण्डल ऋक्संख्याका उल्लेख करके अन्तमें समस्त ऋचाओंका योग १०५८९ लिखा है। सम्भव है इस अशुद्धिका कारण भी लेखक-प्रमाद-ही हो। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि प्रतिलिपि करते समय अङ्कोंमें लिखी हुई १०५२१ संख्यामें लेखकने २ को ८ और १ को ९ पढ लिया हो और १०५८९ लिख दिया हो।

श्री. पं. भगवद्दत्तजीने 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास' भाग १ पृ० १३७ पर स्वामी दयानन्द सरस्वतीकी १०५२१ और १०५८९ दोनों संख्याओंका सामञ्जस्य दर्शानेका प्रयत्न किया है। उनका लेख निम्न प्रकार है—

स्वामी दयानन्द सरस्वतीकी १०५२१ गणनामें यदि नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओंका आधा अर्थात् $\frac{१४०}{२}$ = ७० और इनमेंसे ऋ० ५-२४ की २ कम करके (जो पहिलेही द्विगुणित हैं) ६८ जोडी जावें तो कुलसंख्या १०५८९ हो जाती है।

यद्यपि यह समाधान साधारण दृष्टिसे पूर्ण सन्तोषजनक प्रतीत होता है, परन्तु गहराईसे विचारनेपर इसमें दो महती भूलें उपलब्ध होती हैं। प्रथम– पण्डितजीने उक्त समाधान करते हुए इस बातपर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया कि १०५२१ (१०५२२) संख्यामें कितनी द्विपदाएं अपने द्विपदारूपमें गिनी गई हैं और कितनी चतुष्पदा बनाकर आधी गिनी गई हैं। उन्होंने भी मैक्समूलर–सम्पादित ऋक्संस्करण या तदाश्रित अन्य संस्करणको ही प्रमाण मानकर उक्त सामञ्जस्य दर्शानेका प्रयत्न किया है। वस्तुतः उन्होंने ऋ. ५।२४ के दो मन्त्रोंको जिन्हें प्रथमही द्विपदा मानकर ४ ऋचाएं गिना गया है, पुनः द्विगुणित करनेमें छोड दिया, इसी प्रकार प्रथम और पञ्चम मण्डलातिरिक्त ७६ नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओंको (जिन्हें मैक्समूलरके संस्करणमें द्विपदा रूपमें ही छापा है) भी पुनः द्विगुणित नहीं करना चाहिये था। अतः इन द्विपदारूपमें मुद्रित ७६ ऋचाओंको पुनः द्विगुणित करना महती भूल है। वस्तुतः उन्हें प्रथम मण्डलस्थही नैमित्तिक द्विपदाओंको जो कि ३० चतुष्पदा बनाकर छापी गई हैं, पुनः द्विगुणित करना चाहिये था।

द्वितीय-पण्डितजी ऋ० ५।२४ के विषयमें लिखते हैं— "ऋ० ५।२४ में दो ऋचाएं हैं वे द्विपदा हैं। परन्तु ऋग्वेदमें प्रथमके आगे १।२ और दूसरीके आगे ३।४ लिखा गया है अर्थात् ये पहिलेही द्विगुणित कर दी गई।" (पृ० १३६)

इस लेखमें उन्होंने ऋ० ५।२४ की मैक्समूलरीय ऋक्-संस्करणमें यथामुद्रित दो ऋचाओंको द्विपदा लिखा है, वह सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि ये मन्त्र जिस रूपमें छपे हैं उस रूपमें द्विपदा नहीं हैं। इन मन्त्रोंका मुद्रित पाठ निम्न प्रकार है—

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षिद्युमत्तमं रयिं दाः
॥ १ ॥ २ ॥

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः
समस्मात्। तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय
नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ३ ॥ ४ ॥

यहां प्रत्यक्षही चार चार पाद विद्यमान होनेसे ये दोनों ऋचाएं चतुष्पदा हैं। अतः यदि इन्हें दो ऋचाएं माना जाय तो वे द्विपदा नहीं हो सकती, और यदि द्विपदा मानी जावें तो दोके स्थानमें चार ऋचाएं माननी होंगी। ऋक्सर्वानुक्रमणीमें इन्हें चार द्विपदाएंही माना है। मैक्समूलरने यहां भी प्रथम मण्डलकी तरह ४ द्विपदाओंको २ चतुष्पदा बनाकर छापा है। परन्तु सर्वानुक्रमणी-प्रतिपादित बन्धवादि ४ ऋषियोंका प्रतिद्विपदा सम्बन्ध दर्शानेके लिये प्रथम मन्त्रके आगे १।२ और द्वितीयके आगे ३।४ छाप दिया। अतएव इस संख्यासे इन दो मन्त्रोंको द्विपदा मानकर प्रथमही द्विगुणित समझना महती भूल है। सम्भव है 'वेद-सर्वस्व' पृ० ६७ के लेखसे पण्डितजीको यह भ्रान्ति हुई होगी। पण्डितजीकी इस भ्रान्तिमें प्रोफेसर मैकडोनल भी सम्मिलित हो गये, यह हम आगे दर्शायेंगे।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वतीकी १०५२१ और १०५८९ संख्यामें कोई भी सामञ्जस्य नहीं बनता। इसलिये स्वामी दयानन्दका सर्वयोग भी १०५२२ ही होना चाहिये।

प्रो० मैकडोनल और ऋक्संख्या

प्रोफेसर मैकडोनलने स्वसंपादित ऋक्सर्वानुक्रमणीकी भूमिकामें ऋग्वेदकी मन्त्रसंख्याके विषयमें भी कुछ लिखा है। उन्होंने ऋग्वेदकी ऋग्गणनामें अनेक भूलें की हैं। मैकडोनलने प्रतिच्छन्द ऋक्संख्याका निर्देश करके सर्वयोग १०४४२ लिखा है। इस प्रतिच्छन्द संख्यामें द्विपदा ऋचाओंका योग १२७ माना है। प्रथम मण्डलमें ३१ द्विपदा ऋचाएं लिखी हैं। जब कि कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणीके अनुसार प्रथम मण्डलके ६५-७० सूक्ततक ६१ द्विपदा ऋचाएं हैं, इन ६१ द्विपदाओंमें ७०वें सूक्तकी ११वीं ऋचा नित्य द्विपदा है, शेष ६० नैमित्तिक। मैकडोनलने मैक्समूलरके ऋक्संस्करणके अनुसार ६१ द्विपदा ऋचाओंको ३१ गिन लिया (इनमें ३० चतुष्पदा हैं और १ द्विपदा)। आश्चर्य तो इस बातका है कि सर्वानुक्रमणीका सम्पादन करते हुए मैकडोनलने मैक्समूलरकी द्विपदा ऋचाओंके मुद्रण सम्बन्धी भयानक भूलका परिशोध नहीं किया।

इससे भी अधिक आश्चर्य इस बातपर है कि मैक्समूलरके ऋक्संस्करणमें चतुष्पदा बनाकर छापी गई ऋचाओंको द्विपदा समझकर द्विपदाओंमें गणना कर लीं। यह है पाश्चात्य विद्वानोंका पाण्डित्य, जिन्हें द्विपदा और चतुष्पदा ऋचाओंका भी ज्ञान नहीं। अतः यदि प्रथम मण्डलके ६५-७० सूक्तकी ऋचाएं द्विपदा मानकर गिनी जावें तो उनकी संख्या ३१ के स्थानमें ६१ होगी और द्विपदाओंका सर्वयोग भी १२७ न होकर १५७ होगा। अतएव मैकडोनलका सर्वयोग भी १०४४२ के स्थानमें १०४७२ होना चाहिये, जो कि सर्वसम्मत है। इसमें वालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं।

दूसरी भूल— मैकडोनल लिखता है कि छन्दःसंख्यामें १२७ के स्थानमें १७ द्विपदाएं गिनी हैं सम्भव छन्दःसंख्याकी गणनामें मध्यवर्ती २ संख्या खण्डित हो गई हो। मैकडोनलकी इस कल्पनाके विषयमें हम पूर्वमेंही लिख आये हैं, अतः यहां पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते। प्रतीत होता है कि मैकडोनलको द्विपदाओंके नित्य और नैमित्तिक भेदोंका कुछ भी पता नहीं था। अन्यथा छन्दःसंख्योक्त १७ नित्य द्विपदाओंके विषयमें वह यह कल्पना कदापि न करता।

तीसरी भूल— मैकडोनल लिखता है— ऋग्वेदकी शाकल-संहिताकी ऋचाओंका सर्वयोग १०४४२ होता है

जब कि छन्दःसंख्यामें १०४०२ है। (ऋक्सर्वानुक्रमणी भूमिका पृ० ११७)

छन्दःसंख्याका १०४०२ योग १४० नैमित्तिक द्विपदाओं-को ७० चतुष्पदा गिनकर उपलब्ध होता है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। तदनुसार द्विपदा पक्षमें वही योग १०४७२ होगा। मैकडोनलके योगमें प्रथम-मण्डलस्थ द्विपदाओंकी गणनामें जो ३० संख्याकी भूल हमने ऊपर दर्शाई है, उसे ठीक करनेपर उसका योग भी १०४७२ होगा। अतः छन्दः-संख्योक्त १०४०२ संख्याका गणना-प्रकार न समझकर उसमें भिन्नता दर्शाना तीसरी भूल।

चौथी भूल— मैकडोनल आगे लिखता है कि "१२७ द्विपदाओंको दूसरी बार गिनकर मेरा योग (१०४४२+-१२७=) १०५६९ होता है।"

कात्यायनके "द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति" इस परिभाषा सूत्रका षड्गुरुशिष्यकी वृत्तिसहित शुद्ध अर्थ हम पूर्व लिख चुके हैं, तदनुसार यज्ञकालमें द्विपदारूपमें प्रयुक्त होनेवाली (१४० ऋचाएं) दोदो ऋचाएं मिलकर अध्य-यनकालमें एक चतुष्पदा ऋक् बनती है। परन्तु मैकडोनल-का उपर्युक्त लेख देखनेसे विदित होता है कि उसने इस सूत्रका वास्तविक अर्थ ही नहीं समझा, अतएव उसने द्विपदा-रूपसे गिनी गई ऋचाओंको पुनः द्विगुणित करके १०४४२ में १२७ संख्या और जोड दी, जो सर्वथा अयुक्त है।

पांचवी भूल— पं० भगवद्दत्तजीको ऋ० ५।२४ के विषयमें जो भ्रान्ति हुई है, उसका उल्लेख हम पूर्व कर आये। उन्होंने ऋ. ५।२४ के सम्बन्धमें १६।७।१९ को एक पत्र प्रो० मैकडोनलको लिखा जिसके उत्तरमें ८।८।१९ को मैकडोनलने लिखा है—

"मुझे यह प्रश्न समझमें नहीं आता कि ऋ० ५।२४ की दो द्विपदा ऋचाओंको सर्वानुक्रमणी-में ही क्यों द्विगुणित कर दिया। किसी भी दशामें ५।२४ की द्विपदाओंको द्विगुण करना ठीक प्रतीत नहीं होता। ऐसा करनेसे मेरी मन्त्र-गणना (१०५६९ के स्थानमें) १०५६५ हो जायगी।" (देखो वै० वाङ्मयका इतिहास, भा० १ पृ० १३६)

इस लेखसे स्पष्ट है कि मैकडोनलने भी पं० भगवद्दत्तजी की हांमें हां मिलाई है। उसने भी ऋ० ५।२४ की ऋचाओं-को पुस्तक खोलकर नहीं देखा, अन्यथा दो चतुष्पदाओंको वह द्विपदा न लिखता। 'सर्वानुक्रमणीमें ५।२४ की २ द्विपदाओंको क्यों द्विगुणित कर दिया,' यह लिखना भी अयुक्त है। सर्वानुक्रमणीमें द्विपदाओंको द्विगुणित नहीं किया अपितु उन्हें ४ द्विपदा ही लिखा है जो कि उचित है। यह भूल प्रो० मैकडोनलको मैक्समूलरके ऋक्संस्करणसेही हुई है, इसका वर्णन विस्तारपूर्वक पूर्व कर चुके हैं। अतः मैकडो-नलका ४ संख्या कम करना अयुक्त है।

पाठक इस प्रकरणको भली प्रकार समझें और देखें कि योरोपके प्रामाणिक माने हुए वैदिक विद्वानोंने द्विपदा ऋचा-ओंका वास्तविक स्वरूप न समझकर कितनी भयङ्कर भूलें की हैं। भूल होना मनुष्यका स्वभाव है, वह एकान्तदोषा-वह नहीं। हमारा कहना तो इतनाही है कि जो लोग योरोपियन विद्वानोंको प्रामाणिक मानकर स्वयं आंख मींच-कर उनका अन्ध अनुकरण करते हैं, वे स्वयं भी धोखेमें रहते हैं इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। यह ठीक है कि इन योरोपियन विद्वानोंने वेदके विषयमें जितना परिश्रम किया उतना एतद्देशीय विद्वानोंने नहीं किया और ना ही करते है। परन्तु इस विषयमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि योरोपियन विद्वानोंको कार्य करनेकी जितनी सुविधाएं प्राप्त हैं, एतद्देशीय विद्वानोंको उसका शतांश भी प्राप्त नहीं है। उन्हें तो हर समय रोटीकीही चिन्ता लगी रहती है, फिर वे रोटीके लिये प्रयत्न करें या वेदके लिये! यह प्रत्येक विज्ञ पाठक विचार सकता है।

सत्यव्रत सामश्रमी और ऋक्संख्या

पं० सत्यव्रत सामश्रमीने ऋग्वेदकी संख्याके विषयमें ऐतरेयालोचनके पृष्ठ १४२, १४३ पर कुछ लिखा है। उसमें उन्होंने भी अनेक भूलें की हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

छन्दःसंख्योक्त ऋग्गणनाके विषयमें जो भूल उन्होंने की है, उसका निदर्शन हम पूर्व करा चुके।

ऐतरेयालोचन पृ० १४३ पर लिखा है—

"अस्मत्परिगणनया त्वाश्वलायनसंहितायां १०५५२ ऋचो दृश्यन्ते।"

पुनः आगे पृ० १४४ पर लिखा है—

"सवालखिल्यसहिता १०५५२ ऋचः श्रूयन्ते इति त्वस्माभिः सुनिश्चितं इति।"

अर्थात् ऋग्वेदकी आश्वलायन शाखामें वालखिल्यसहित १०५५२ ऋचाएं हैं, यह सुनिश्चित है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमीने ऋग्वेदकी वर्तमान संहिताको आश्वलायनी लिखा है, यह सर्वथा विपरीत है। परंतु हम यहां उसपर विचार न करेंगे। पं० सत्यव्रत सामश्रमीने जो वालखिल्यसहित १०५२२ ऋक्संख्या लिखी है वह अयुक्त है। उनकी ऋग्गणनाका आधार भी मैक्समूलरीय या तदाश्रित अन्य ऋक्संस्करण है। मैक्समूलरके ऋक्संस्करणमें प्रथममण्डलस्थ ६० नैमित्तिक द्विपदाएं भूलसे ३० चतुष्पदा बनाकर छापी हैं, यह हम पूर्व सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं। अतएव उसके अनुसार ऋग्गणना करनेमें सत्यव्रत सामश्रमीकी सुनिश्चित ऋक्संख्यामें भी ३० संख्याकी भूल रह गई है। इसलिये उसकी पूर्ण संख्या भी १०५५२ होनी चाहिये।

पं० हरिप्रसाद और ऋक्संख्या

पं० हरिप्रसादने अपने 'वेद-सर्वस्व' नामक ग्रन्थके पृ० ६५—६८ तक ऋग्वेदकी मन्त्रसंख्याके विषयमें लिखा है। उनका समग्र लेख प्रायः पं० सत्यव्रत सामश्रमी आदिके ग्रन्थोंका भाषामें संग्रह मात्र है। अतः उनके लेखमें वे समस्त दोष विद्यमान हैं जो उनके आधारभूत ग्रंथोंमें हैं। अतएव उनपर यहां पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होगा। उनके लेखमें जो नये दोष हैं, केवल उन्हींका निदर्शन हम यहां कराते हैं—

पं० हरिप्रसादने वेद-सर्वस्व पृ० ६७ पर लिखा है—

"चरणव्यूहके टीकाकार महीदासने ऋग्वेद-मन्त्रोंकी संख्या दस हजार चार सौ बहत्तर (१०४७२) लिखी है, परन्तु यह नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं सहित है जिनकी संख्या एक सौ चालीस १४० होती है। यदि वह निकाल दी जाय तो शेष संख्या दस हजार तीन सौ बत्तीस (१०३३२) रह जाती है।"

इस लेखसे विदित होता है कि पं० हरिप्रसादने न तो द्विपदा ऋचाओंका स्वरूपही समझा और नाही महीदासकी गणना-प्रकार। १४० नैमित्तिक द्विपदाओंकी ७० चतुष्पदा ऋचाएं बनती हैं, अतः यदि नैमित्तिक द्विपदात्वही न्यून करना था तो $\frac{१४०}{२}$ = ७० संख्या न्यून करनी चाहिये थी न कि १४०।

पुनः आगे लिखा है—

"वर्तमान ऋग्वेद-संहितामें मन्त्रोंकी संख्या दस हजार चार सौ चालीस (१०४४०) है। पांचवें मण्डलमें चौबीसवां सूक्त दो मन्त्रोंका है। सर्वानुक्रमणीके मतानुसार वह चार मन्त्रोंका है, यदि सर्वानुक्रमणीके मतानुसार दो संख्या बढा दी जाय, तो १०४४२ संख्या हो जाती है।"

पं० हरिप्रसादने १०४४० संख्या मैक्समूलरके ऋक्-संस्करणके अनुसार दी है, अत. उसके कारणसे होनेवाली ३० संख्याकी भूल इसमें भी है। इसी प्रकार ऋ० ५।२४ के मन्त्रोंका क्या स्वरूप है यह भी स्पष्ट नहीं किया। पं० हरिप्रसादने उन्हें दो मन्त्र भी गिना है, अतः द्विपदा पक्षमें उसमें भी दो संख्याकी कमी है, यदि इन सब न्यूनताओंको पूरा कर दिया जाय तो वही १०४४०+३०+२ = १०४७२ संख्या उपलब्ध होती है। यह संख्या वालखिल्य ऋचाओंके विना है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हमने ऋग्वेदकी मन्त्रगणनाके संबन्धमें सब प्राचीन विद्वानोंके मतोंकी समालोचना और उनकी भूलोंका परिशोधन करते हुए ऋग्वेदकी शुद्ध ऋक्संख्या दर्शानेका प्रयत्न किया है। हमारे सारे लेखका सार निम्न प्रकार है—

कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणीके अनुसार वालखिल्य और नैमित्तिक द्विपदाओं सहित समस्त ऋक्संख्या १०५५२ है। यदि अध्ययनकालमें १४० नैमित्तिक द्विपदाओंको चतुष्पदा बना कर गिना जाये तो १४०÷२ = ७० संख्या न्यून करके १०४८२ ऋक्संख्या होगी। यद्यपि इन दोनों ऋक्संख्याओंमें ७० ऋचाओंका भेद दीखता है, तथापि ऋग्-अक्षर मात्रा आदिके परिमाणमें कुछ भी न्यूनाधिक्य नहीं है। केवल ऋचाओंके गणना-प्रकारके भेदसे ७० संख्याका भेद होता है।

ऋग्वेदका शुद्ध संस्करण

हम प्रथम लिख चुके हैं कि मैक्समूलरका ऋक्संस्करण उसके महान् परिश्रमका फल है, परन्तु उसमें कई दोष हैं। उसमें नैमित्तिक द्विपदाओंको तीन रूपसे छापनेका एक महान् दोष विद्यमान है। इसी दोषके कारण कई विद्वान् ऋग्वेदकी सम्यक् ऋक्संख्याका निर्णय नहीं कर पाये। हमें यह कहते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि पं० सातवलेकर द्वारा सम्पादित ऋग्वेदका द्वितीय संस्करण अभीतक प्रकाशित हुए समस्त संस्करणोंमें सर्वोत्तम है। इसके लिये पं० सातवलेकरजी वस्तुतः सब वैदिकोंके धन्यवादार्ह हैं।

ऋग्वेदीय देवता-निर्देशमें पं० सातवलेकरजीने कहीं कहीं कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणीकी व्यवस्थामें जान बूझकर कुछ परिवर्तन किया है। यदि वह परिवर्तन न किया होता तो ऋग्वेदका यह संस्करण कात्यायन संप्रदायानुसार आदर्श संस्करण होता। इतनी न्यूनता होनेपर भी हम वर्तमानमें पं० सातवलेकरजी द्वारा प्रकाशित ऋग्वेदके द्वितीय संस्करण-को सर्वोत्तम संस्करण कह सकते हैं। जिस प्रकार प्रो० मैक्समूलरका ऋक्संस्करण लगभग ६०-७० वर्षतक प्रामाणिक माना जाता रहा, तद्वत् यह संस्करण भी तबतक गुण-ग्राही योग्य वैदिक विद्वानोंके हाथका भूषण रहेगा जब तक अन्य कोई विद्वान् इससे भी अधिक उत्तम संस्करण प्रकाशित न करेगा।

वस्तुतः मैक्समूलरका ऋक्संस्करण अब विशेष आदरणीय नहीं रहा। पं० सातवलेकरजीके संस्करणमें मन्त्रपाठकी शुद्धताके अतिरिक्त अनेक विशेषताएं हैं। अनेक ऋग्वेद-सम्बन्धी ज्ञातव्य विषयोंका सन्निवेश आद्यन्तमें परिशिष्टोंमें किया है। सबसे अधिक प्रसन्नताकी बात यह है कि ऋग्वेदके इस संस्करणमें ऋचाओंका जो पूर्णयोग दिया है वह १०५५२ ही है, जो कि इस लेखमें पूर्ण विवेचनाद्वारा निश्चित किया गया है।

अन्तमें वैदिक विद्वानोंसे यह प्रार्थना है कि इस लेखमें यदि कोई त्रुटि रही हो तो कृपा करके उसे दर्शानेका प्रयत्न करें। जिससे यह विषय विस्पष्ट हो।

वेद और भगवद्गीता

(लेखक— प्राध्यापक गणेश धारेश्वरजी, बी. ए.)
(अनुवादक— पं० द. ग. धारेश्वर, बी. ए.)

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥

(ऋ० ५।५१।१५)

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) जैसे सूर्य और चंद्र संचार करते हैं उसी प्रकार हम भी (स्वस्ति पन्थां अनु चरेम) उस कर्तव्य-पथका अनुसरण करें जो हितकी ओर चला जाता है और (पुनः जानता अघ्नता ददता) फिर सुज्ञ, अहिंसक तथा सदैव दानीके साथ (सं गमेमहि) हम भली भाँति मिलजुल कर रहें ।

वयमिन्द्र त्वे सचा वयं त्वाभि नोनुमः ।
अस्माँ अस्माँ इदुदव ॥ (ऋ० ४।३२।४)

(इन्द्र) हे तेजस्वी प्रभो ! (वयं त्वे सचा) हम तुझमें अविरल रूपसे निरत हैं (त्वा अभि) तुम्हें प्रमुखतया ध्यानमें रखकरही (वयं नोनुमः) हम नमनपूर्वक प्रार्थना लगातार करते हैं । (अस्मान् अस्मान् इत्) हमें अवश्यही (उदव) अपनी कृपासे तथा विविध सहायताओंसे सुरक्षित रख ।

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य ।
वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ (ऋ० ४।३१।१५)

(सूर्य) हे उच्च कोटिके भाव प्रवर्तित करनेवाले प्रभो ! (अस्माकं श्रवः) हमारी सुननेयोग्य कीर्तिको (देवेषु उत्तमं कृधि) प्रकाशमान तथा दिव्य लोगोंमें सर्वोपरि बनाओ, (उपरि द्यां इव) सबके ऊपर विद्यमान आकाशवत् (वर्षिष्ठं) उस हमारे यशको अति उच्च बनाओ ।

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता ॥

(ऋ० १०।१३३।६)

(इन्द्र) हे प्रभो ! (त्वायवः वयं) तेरी प्राप्तिके लिए तीव्र लगनसे लालायित होते हुए हम (सखित्वं आरभामहे) तेरी मित्रताका सूत्रपात करते हैं, उससे संपृक्त रहते हैं । (विश्वानि दुरिता अति) सभी बुराइयों तथा कष्टोंको लाँघकर (नः ऋतस्य पथा नय) हमें तेरे अटल सत्य नियमके मार्गपरसे संचारित कर ।

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु ।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥ (ऋ० १।२५।१६)

(मे धीतयः) मेरी विचारधाराएँ (उरुचक्षसं इच्छन्तीः) सबको देखनेवाले परमात्माको तीव्रतया चाहती हुई (गव्यूतीः अनु गावः न) गौओंके संचारयोग्य स्थानके पीछे गौएं जैसी शीघ्रतया चली जाती हैं वैसेही (परा यंति) इस दृश्यमान विश्वके परे विद्यमान परमात्माके निकट सदैव चली जाती हैं ।

यूरपके प्रबल सम्राट् शार्लमेनके दरबारमें एक दिन एक यात्री साथमें कपडेका टुकडा लिए उपस्थित हुआ और इस वस्त्रखण्डको वह नरेशके लिए भेंट रूपमें अर्पित करना चाहता था । इसपर वह सम्राट् तथा उसके अन्य कर्मचारी ठठाकर हँस पडे, क्योंकि वह कपडा तो साधारण कैन्वसके समान दीख पडता था । सम्राट्ने उससे कहा — ' हाँ, एक बडे साम्राज्यके शासकके लिये तुम बडा अच्छा उपहार लाये हो, पर यदि तुम अपने कथनकी सत्यता न जतलाओगे तो तुम्हें अपनी पीठपर कोडोंकी मार झेलनी पडेगी । अच्छा, अब सिद्ध कर दिखाओ कि यह चिथडा मेरी मेजपर धर देनेयोग्य है ।' उस व्यक्तिपर इन धमकियोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पडा और वह शांतचित्त हो कहने लगा कि 'यह कपडा पानीमें गीला नहीं होता है और आग इसे जला नहीं सकती है ।' फिर एक बार सम्राट तथा सामंत खिलखिलाकर हँस पडे । पर जब जाँच करानेपर वह कपडा खरा ठहरा और जल तथा अग्निमेंसे वह गीला न बनकर और न झुलसकर ज्योंका त्यों निकल आया, तब उस नवागतका सम्मान किया गया और कुछही देर पहले खिल्ली उडानेवाले नरेशने उसे पर्याप्त पारितोषिक दिया ।

कहनेका मतलब यह है कि कुछ काल पहले लार्ड मेकाले सदृश प्रबल तथा महान् पुरुष वेद, उपनिषद्, गीता एवं रामायण सदृश ग्रन्थोंको उपहासास्पद समझ उनकी मखौल किया करते थे, पर येही ग्रन्थरत्न अग्निपरीक्षामें भलीभाँति सत्य ठहरे। विशेषतया, वेद उच्च कोटिकी समालोचना एवं टीकारूपी अग्निपरीक्षासे निकल आये हैं और एक नहीं बीसियोंबार विजयी तथा अक्षुण्ण ठहर चुके हैं। शून्यवादी, जडवादी, नास्तिक, संन्यासी, परिव्राजक, बुद्धिवादी, संयमपरायण, भिक्षु एवं वेदान्तमिषधारी सभी ईश्वरवाणी वेदको आक्रमण कर हटानेके लिए आगे बढे, पर सभी निष्फल ठहरे। मानव जातिका वह आद्य एवं सर्वप्रथम धर्मग्रन्थ प्रत्येक हमलेके उपरान्त अधिक आभापूर्ण तथा नाविन्यसज्जित हो मानवका पक्ष प्रकाशित करनेके लिए निकल आया, ठीक उसी प्रकार जैसे कि अंधेरी तथा तूफानी रात्रिके पश्चात् सूर्य प्रकट हो यत्र तत्र प्रकाशपुंज बिखेर देता है।

कुछ समय पहले हम एक लेखमें दर्शा चुके हैं कि कैसे रामायण भी ठीक वेदके समानही चारुतया मानवजातिको शरीर, मन एवं आत्माके सामंजस्ययुक्त विकासकी शिक्षा देता है और अब इस लेखमें बतलाना चाहते हैं कि भगवद्गीता भी किस प्रकार वेद-प्रदर्शित पथका अविचल भावसे अनुगमन करती हुई हमें उपदेश देती है कि हमारी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियां उचित रूपसे तथा पूर्णतया संपूर्ण सामंजस्यपूर्ण ढंगसे विकसित करनी चाहिये। इस प्रमुख विषयकी अधिक विस्तारपूर्वक चर्चा करनेके पहले यह ठीक होगा कि दोनोंकी विशेषताओं एवं ऐतिहासिक पार्श्वभूमि तथा दोनोंके परस्पर संबंधपर कुछ लिखा जाये। जैसे रामायणका आध्यात्मिक अर्थ करनेमें कुछ कठिनाई प्रतीत नहीं होती है वैसेही गीताका भी एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ निकल सकता है, क्योंकि यह महाभारत कथाकाही एक अंश है।

रामायणमें उपलब्ध अयोध्या, दशरथ, दशमुख, राम, सीता, मारुति, वाली, इन्द्रजित्, सेतु, लंका आदि शब्दोंमें जैसे आध्यात्मिक भावार्थ निकल सकते हैं, वैसेही गीतासे पाये जानेवाले अर्जुन, कृष्ण, हृषीकेश, गुडाकेश, धृतराष्ट्र, कुरुक्षेत्र, धर्मक्षेत्र, कौरव, पाण्डव सदृश शब्दावलि स्पष्टतया सूचित करती है कि गीताका भी रामायणके समानही आध्यात्मिक अर्थ लिया जा सकता है। यहाँपर संक्षेपमेंही उसका निर्देश किया जायगा। धर्मके सिद्धांतोंको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए सर्वोपरि क्षेत्रही धर्मक्षेत्र कहलाया जाता है और कुरुक्षेत्रका तात्पर्य है मानवोंके कार्यके लिए योग्य क्षेत्र। दोनों शब्दोंका यह अर्थ स्पष्ट रूपसे सूचित करता है संसार तथा मानवी शरीरही धर्मक्षेत्र तथा कुरुक्षेत्र हैं।

कृष्ण तथा उसके अन्य नामोंसे पता चलता है कि वह सदसद्विवेकबुद्धि या विचारशक्तिका प्रतिनिधि है; कृष्ण= खींचनेवाला, आकर्षण करनेवाला; गोविंद = दृष्टि, ज्ञान या बुद्धिमत्तासे युक्त; हृषीकेश = जो ज्ञानेन्द्रियोंपर प्रभुत्व रखता हो। अर्जुनसे तात्पर्य है मानवी आत्माकी वर्णरहित प्रवृत्तियाँ जो सदसद्विवेक बुद्धिद्वारा नियंत्रित कर देनी चाहिये। मामक तथा कौरव शब्दोंसे तामसिक और राजसिक प्रवृत्तियाँ सूचित होती हैं। पाण्डव शब्दसे मानवी आत्माकी सात्त्विक एवं वर्णरहित प्रवृत्तियोंकी जानकारी होती है। धृतराष्ट्र, पांडु एवं विदुर नामक भ्रातृत्रयसे तीन गुणों अर्थात् अंध तमस् (अंधकार, जडता, आलस्य), फीका रजस् (गति, क्रियाशीलता) और सत्त्वगुण (प्रकाश, सज्जनता) की सूचना मिलती है। इस भाँति गीतासे यह भाव निकलता है कि विचारशीलता या सदसद्विवेकबुद्धिने, उस महान् अवसरपर जब कि इस संसारमें मानवी आत्माकी बहुतसी बुरी प्रवृत्तियाँ (कौरव) और चुनी हुई थोडीसी अच्छी प्रवृत्तियोंके (पाण्डव) बीच बडी लडाई प्रचलित हो, दिया हुआ उपदेश। ये घटनाएँ हर व्यक्तिमें हुआही करती हैं, अतः जगत् धर्मक्षेत्र है और मानवी शरीर कुरुक्षेत्र है। क्योंकि वे कर्तव्य कर्म पूर्ण करनेके लिए संपूर्णतया सुयोग्य हैं।

इस लेखमें निम्नलिखित आठ विभागोंपर चर्चा करेंगे। (१) वेदके संबंधमें ऐतिहासिक बातें, (२) वैदिक प्रकटीकरण (Vedic Revelation) का स्वरूप और उसकी विशेषताएँ, (३) गीताकी ऐतिहासिक पार्श्वभूमि, (४) गीतामें प्रतिपादित सिद्धांतोंका स्वरूप तथा उनकी विशेषताएं, (५) वेद तथा गीतामेंसे समान शिक्षाएं, सदृश विचार इत्यादि, (६) गीतामें उपलब्ध वेदविषयक उल्लेख, (७) कैसे और कहाँपर दोनोंमें विभिन्नता दीख पडती है?

(१) ऐतिहासिक दृष्टिसे वेदोंका विचार।

प्राध्यापक मैक्समूलर साहबका कथन है कि "विश्वके तथा भारतके इतिहासमें वेदोंका स्थान है, आर्यवंशीय मानवका पहले बार उच्चारण किया हुआ शब्द वेदही है।" तथापि आश्चर्यकी बात है कि वे वेदकालको बहुत अर्वाचीन ठहराते हैं। उनकी रायमें वेदकाल लगभग ईसाके पूर्व १२०० है। प्राध्यापक बुलहर महोदय इससे भी प्राचीनकालको वेदकाल माननेके लिए तैयार थे। प्राध्यापक ब्लूमफील्ड महोदयकी धारणाके अनुसार वैदिक साहित्यका सृजन २००० ई. पूर्वके लगभग हुआ था और उस कालकी संस्थाओंके तथा धार्मिक कल्पनाओंके प्रारंभको इससे अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन कालमें रखना चाहिए। विंटरनिट्झ महोदय इस कालको और एक सहस्र वर्ष पहले निर्धारित करना चाहते हैं।

जाकोबी महोदय ज्योतिषशास्त्रविषयक प्रमाणोंके आधारपर ४५०० ई. पू. वेदकाल मानते हैं। तिलकजीके मंतव्यानुसार वेद ईसाके पूर्व ६००० वर्ष पहलेके हैं। श्री० केलकरजी तैत्तिरीय ब्राह्मणके एक उल्लेखसे, जो कहता है कि बृहस्पतिने तिष्य नक्षत्रको छिपा रखा था, उस ग्रन्थका काल ४५६० ई. पू. बतलाते हैं, जिससे वेदकी अत्यधिक प्राचीनता सिद्ध होती है। ऋग्वेदके वृषाकपि सूक्तमें निर्दिष्ट ज्योतिषविषयक उल्लेखोंसे, जो दशममंडलके वैवाहिक सूक्त ८५ में भी पाये जाते हैं, डॉ. मुखोपाध्याय एवं अन्य विद्वान् मानने लगे कि ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीन युगका है। इस मंतव्यकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि, जैसा हमने २९ वर्ष पहले Vedic Magazine नामक मासिक पत्रमें बतलाया था, वेदमें जलप्रलयका (The Flood) उल्लेख बिलकुल नहीं मिलता है, जब कि अन्य सभी प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थोंमें, उदाहरणार्थ बैबिलोनिया, पर्शिया, ज्यूडिया तथा भारतके भी (जेन्द अवेस्ता, ब्राह्मण, old Testament) जलप्रलयका स्पष्ट निर्देश मिलता है। अतः हमारी रायमें वेद प्रागैतिहासिक, जलप्रलयके पूर्ववर्ति एवं हिमयुगके मध्यकालके (Inter-glacial) समझने चाहिये। क्योंकि वेदके पश्चात् तथा ब्राह्मणग्रन्थ, Old Testament और जेंद अवेस्ताके पहले जलप्रलयका आविर्भाव हुआ। यह जलप्रलयरूपी भीषण दुर्घटना वेदकाल तथा ब्राह्मणग्रंथोंके कालके मध्य हुई थी। अतः यह भलीभाँति समझा सकता है, कि वेद क्योंकर सभी वेदोत्तरकालीन ब्राह्मणग्रन्थसदृश ग्रन्थोंके लिए बहुत अधिक मात्रामें दुरूह एवं अज्ञातप्राय बन चुके थे। क्योंकि वास्तवमें सभी वेदोत्तर युगके ग्रन्थ जलप्रलयके पश्चात्‌ही लिखे गये थे।

वैदिक तथा प्राच्यविद्या-पंडित इस बातसे परिचित हैं कि वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थोंके बीच एक बडी त्रुटित दशा एवं खाई विद्यमान है। डॉ. पीटर्सनके कथनानुसार 'ब्राह्मण-ग्रन्थोंके निर्माताओंने, जो प्राचीन वैदिक सूक्तोंके स्वाभाविक अर्थसे नितान्त अपरिचित हो चुके थे, पहले पहले अर्थ करनेकी कृत्रिम प्रणालीका सृजन किया था। स्व. चिं. वि. वैद्यजी कहते हैं- 'ब्राह्मणग्रन्थोंके कालमें भी वैदिक देवता एक कूट, पहेली या उलझनके रूपमें परिचित थे, क्योंकि तबतक अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी थी, अतः ऐसा होना स्वाभाविक था।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् भी इस बातसे पूर्णतया सहमत हैं कि वेदोत्तर कालीन ग्रंथ-निर्माताओंके लिये वेद एक दुरूह ग्रन्थ या पहेली बन चुका था। वेदकालीन तथा वेदोत्तर-युगकी परंपरामें यह त्रुटित दशा केवल जलप्रलयसदृश भीषण दुर्घटनासे ही हो सकती है; अन्य साधारण कारण इसके लिए पर्याप्त नहीं है। श्री. अविनाशचंद्र दासजीने यों दर्शानेका प्रयत्न किया है कि वेदमें बार बार भूस्तरके नीचे होनेवाली उथलपुथलका वर्णन पाया जाता है और वेदमें यों कहा है कि सप्तसिन्धुके चारों ओर चार समुद्रोंका अस्तित्व था, इससे ज्ञात होता है कि वेदका काल अतीव प्राचीन था। वेदोत्तरकालीन साहित्यमें एक विख्यात दंतकथा पाई जाती है कि जब जब वैदिक धर्म विनष्ट हुआ (दुरूह बना) तब तब भगवान् विष्णु उसके प्रस्थापनार्थ नीचे उतर आये। गीतामें भी यह भाव पाया जाता है। ऐसा कहा है कि एकबार समुद्रसे वेदको बचानेके लिए विष्णुने एक बडी मछलीका रूप धारण किया था। इस कल्पना की जडमें, ऐसा जान पडता है, यही बात थी कि वेद तथा उसके पश्चात् जो साहित्य-निर्मिति हुई उसके मध्यमें जलप्रलयके कारण जो धागा टूट गया था, उसकी धुँधलीसी स्मृति शेष रह गयी थी। अस्तु; इस पूर्वोक्त कथनसे हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि वेद

प्रागैतिहासिक, हिमपूर्वकालीन, जलप्रलयके पहले अस्तित्व-में विद्यमान थे और इसीलिए पश्चात्युगके विद्वानोंको ये सुतरां दुरूह एवं जटिल प्रतीत होते थे। क्योंकि परंपरामें आकस्मिक एवं भीषण विच्छिन्नता पैदा हुई थी।

(२) वैदिक प्रकटीकरणका स्वरूप तथा विशेषताएं।

इस विषयकी विस्तारपूर्वक चर्चा हमने वेदसंबंधी अपने अन्य पुस्तकोंमें की है। अतः हम यहाँपर उन निर्णयोंको संक्षेपमें देंगे जिनपर कि हम पहुँचे हैं। पाठक विभाग ४, ५ और ७ को देख लें।

(३) भगवद्गीताकी ऐतिहासिक पार्श्वभूमि।

अंतर्गत प्रमाणोंसे यह दिखाई देता है कि ईश, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, मैत्री इत्यादि वास्तविक वेदसे संबंध रखनेवाले उपनिषदोंसेही गीता सीधे अवतीर्ण हुई है, क्योंकि इनके कई अवतरण यथेष्ट मात्रामें गीतामें दिये गये हैं। यह है कि इन उपनिषदोंकी अपेक्षा गीता अर्वाचीन है। अंतर्गत प्रमाणोंसे हमारे ऐसा भी बतलाया जा सकता है कि गीतापर जैन और बौद्ध धर्मोंका तनिक भी प्रभाव नहीं पडा है। अब निर्विवाद रूपसे वर्तमान गीताको हम पुराने वैदिक उपनिषदोंके पश्चात् एवं महावीर तथा बुद्धके पूर्वकालमें रख सकते हैं। दूसरी बात यों है कि गीता उपनिषदोंके निकटवर्तिनी है नकि बुद्ध या महावीरके पूर्व कुछही काल पहले उसका सृजन हुआ। अबतक हमें जो ज्ञान हुआ है उससे हम इससे अधिक कुछ भी निर्विवाद रूपसे कह नहीं सकते हैं।

उपनिषदोंके संबंधमें निस्सन्देह हम यों प्रतिपादन कर सकते हैं कि पुराने, सच्चे वैदिक उपनिषदोंके पश्चात् और उत्तरकालीन तथाकथित एवं सांप्रदायिक उपनिषदोंके पूर्वही गीताका आविर्भाव हुआ, क्योंकि उपनिषद्के समानही गीताका महत्त्व इस बातमें है कि वैदिक उपनिषद ईश, कठ आदिके समानही गीता भी संपूर्णतया असांप्रदायिक है। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि महाभारतमें गीता एक नवागत उपनिषद्के रूपमेंही समाविष्ट करा दी गयी थी, जैसे उस लोकप्रिय महाकाव्यमें नारायणीय प्रकरणके समान अन्य कई विषय भी पाये जाते हैं। गीताके प्रत्येक अध्यायके अंतमें उपनिषद् नाम दिया गया उपलब्ध होता है और प्रारंभिक एक श्लोकमें कहा है कि सज्जनोंके हितके लिए कृष्णरूपी चतुर निचोडनेवालेने अर्जुनको वत्सरूपमें रखकर उपनिषद्रूपी सभी गौओंसे गीतारूपी महान् अमृतमय दुग्धका दोहन किया।

लोकमान्य तिलक जैसे कुछ पंडितोंकी रायमें हमारी वर्तमान गीतामें दो विभिन्न स्तर पाये जाते हैं— एकमें तो निर्गुण ब्रह्मके विषयमें वैसेही प्रतिपादन किया है जैसा कि पुराने एवं सच्चे वैदिक उपनिषदोंकी शैलीसे प्रतीत होता है, और दूसरेमें श्रीकृष्ण परमात्माका प्रतिनिधि माना गया है। पहला स्तर वह केन्द्र था जिसके चारों ओर दूसरा स्तर पश्चात्कालमें धीरे धीरे बढता गया। इससे भी यही बेशक सिद्ध हो रहा है कि जैसी गीता आज हमें उपलब्ध है वह नूतन उपनिषद्ही है जिसे विस्तृत रूप देकर उस महान् काव्य महाभारतमें प्रविष्ट कराया गया। श्री. तिलककी धारणा है कि ईसाके पूर्व ४०० वर्ष पहले महाभारतके ही एक विभागके रूपमें गीता विद्यमान थी और यह गीता उस पूर्ववर्ती छोटेसे ग्रन्थका विस्तारीकरण है जो जय नामक पूर्ववर्ती भारत ग्रन्थमें पाया जाता था।

यह जय ग्रन्थ ई. पूर्व ९०० वर्ष पहले विद्यमान था और इसीसे वर्तमान महाभारत ग्रन्थका आविर्भाव हुआ। तिलकके मंतव्यानुसार ब्राह्मण ग्रन्थोंका काल ई. पू. २५०० मानना चाहिये और उपनिषदोंका प्रचलन ई. पू. १६०० से भी बहुतही पूर्वकालमें था। कुरु-पांडव-युद्धका काल लगभग १४०० वर्ष ईसाके पहले मानते हैं जब कि श्रीकृष्णने कर्मयोग या प्रवृत्तिधर्मका पुनरुपदेश किया था। स्व. चिंतामणि विनायक वैद्य तिलकके पूर्वोक्त धारणासे सहमत नहीं हैं और वे गीता तथा भारतको इससे भी प्राचीन कालका बतलाते हैं।

श्री. वैद्यका कथन है कि गीता एवं भारतका काल १४०० ई. पू. मानना चाहिए। क्योंकि गीताका निर्माण पाणिनी तथा पिंगलके पहले हुआ था (१००० ई. पू.)। तेलंगके समान, दोनोंकी राय है कि गीता महाभारतका अखंड भाग है।

(४) गीतामें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका स्वरूप एवं उनकी विशेषता।

मनोविज्ञानके अभ्यासक इस बातसे भलीभाँति परिचित रहते हैं कि मानवी मन कभी स्थिर नहीं रहता है; वह तो सदैव वियुक्तीकरण एवं संयुक्तीकरणके मध्य एक छोरसे दूसरे छोरतक झूमता एवं आन्दोलित होता रहता है। मनकी रचना देखते हुए कहना पडता है कि विश्लेषण एवं संश्लेषणकी क्रियाओंसे गुजरे विना वह किसीकाभी ग्रहण नहीं कर सकता है। हमारे हरएक अनुभवका क्षण सत्य तथा संपूर्ण होनेके लिए इस द्विविध बिछुडने एवं जुडानेकी क्रियासेंसे हो आता है। विशाल परिमाणमेंही, उदाहरणार्थ जनतामें तथा मानवोंके विशाल समुदायमें आन्दोलित बननेकी यह क्रिया अधिक स्पष्ट रूपसे दृग्गोचर होती है। सामुदायिक मन (The group-mind) अथवा जनताकी घनीभूत या एकत्रित बुद्धि (Collective intelligence) कुछ कालतक मानों विभाजन एवं वियुक्तकिरणमेंही रममाण होती है और उसके पश्चात् एकत्रीकरण या संगठनकी ओर प्रवृत्त होती है, यदि इसे स्वतंत्रता मिल जाये और बाह्य प्रभावोंसे इसके कार्यमें कोई रुकावट या विरोध पैदा न हो।

हम यहाँपर भारतीय विचारधाराकी दशाकाही दृष्टान्त लेंगे, विशेषतया उस समय जब कि गीताका सृजन हो रहा था, या उसके कुछही काल पहले। हमारी रायमें उपनिषदोंके पश्चात्‌के युगमें और बुद्धके पूर्ववर्ती कालमें गीताका आविर्भाव हुआ। वह काल बडेही महत्त्वका है, क्योंकि इस युगमें बडी भारी मानसिक उथलपुथल एवं वैचारिक खलबली मच रही थी। इस बौद्धिक अशांतिका प्रमुख कारण यह था कि उस समय वेदके सच्चे अर्थके बारेमें अनेक एवं भाँति भाँतिकी विविध विचारधाराएँ प्रवर्तित हो चुकी थीं (गीतामें इनका उल्लेख वेद-वाद शब्दसे किया है)। क्योंकि वेद तो तब दुरूह एवं जटिल प्रतीत होने लगे थे, कारण कि जलप्रलयरूपी आकस्मिक तथा भीषण दुर्घटनाके फलस्वरूप परंपराके अविरल प्रवाहमें भयावह खाई दृष्टिपथमें अवतीर्ण हुई थी।

इस वैचारिक आन्दोलनके परिणामस्वरूप एक बृहदाकार साहित्यका सृजन हुआ था, जिसमें ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्रग्रन्थोंका समावेश होता है। इनका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न सम्प्रदाय उठ खडे हुए और इनमेंसे हरएक, वेदमेंसे कुछ चुने हुए तथा अधूरे समझे हुए सिद्धांतोंके सहारे आपसमेंही तीव्र शाब्दिक झगडे करनेमें प्रवृत्त रहा। इन परस्परविरोधी पंथोंने संपूर्ण एवं अविकल वैदिक सिद्धांतोंका ग्रहण नहीं किया था। एक पंथने प्रवृत्तिमार्गका अनुगामी करना शुरू किया, दूसरे सम्प्रदायने निवृत्तिमार्गका पिछलागू बनना अंगीकृत किया, तीसरा विभाग यज्ञको सर्वोपरि मानने लगा, चौथा इस ज्ञानको अत्यधिक महत्त्व देने लगा, कोई योग, कोई सांख्यको महत्त्वपूर्ण मानने लगे और कइयोंकी राय बन चुकी थी। भक्तिके सिवा और कुछ नहीं चाहिए। वास्तवमें उक्त सभी बातें वेदमें पर्याप्त मात्रामें पाई जाती हैं, तो भी उ[illegible] किसीका ध्यान आकर्षित नहीं हुआ।

वेदके कथनानुसार ये सभी सिद्धांत आवश्यक हैं, लेकिन उपर्युक्त सम्प्रदाय और पंथ तथा मतमतान्तर संकीर्ण भाव[illegible] तथा विचारधाराओंसे अत्यधिक मात्रामें प्रभावित हो कटुतर सांप्रादायक विरोध एवं झगडोंमें फंस गये। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सांख्ययोग, भक्तिमार्ग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-पंथक विभिन्न अनुयायियोंमें जो यह अलग हो विरोध करनेकी भावना हुई वह सिर्फ इतनाही बतलाती है कि कैसे मानवी मन एक ओर झुककर विभिन्नता बढानेवाली शक्तियोंसे आकर्षित होता है और जब इनकी क्रिया समाप्त होती है, स्वाभाविकतया प्रतिक्रियाका प्रारंभ होता है, जिसके कारण समझौते, संयोग करने और सामंजस्य प्रस्थापित करनेकी ओर मानवी मन प्रबलतया प्रवर्तित होता है।

यह लंबकका दूसरी छोरतक चला जाना है। सामुदायिक मनमें तीव्रतया यह संगठन करनेकी भावना उत्पन्न हो चुकी थी इसलिये बुद्धिमान् लोग उस समय प्रचलित अव्यवस्था एवं गडबड झालको हटाकर प्रबंध और समन्वय करनेके कार्यमें जुट गये। संश्लेषण, संभोग, एकत्रीकरण एवं सामंजस्य प्रस्थापित करनेके लिए जो श्रेष्ठतम प्रयत्न किये गये थे उनकी परिणति गीतारूपी अत्युत्कृष्ट ग्रन्थरत्नमें हुई। श्रीशंकराचार्यजीने अपने गीताभाष्यकी भूमिकामें इसी बातका उल्लेख किया है कि श्रीकृष्णने बहुत दिनोंसे विलुप्त द्विविध वैदिक धर्मका उपदेश अर्जुनको गीतामें किया था,

जिसे व्यासने महाभारतमें रख दिया है।

प्राध्यापक रानडे महोदय अपने ' महाराष्ट्का रहस्यवाद ' (Mysticism in Maharashtra) ग्रंथमें लिखते हैं- " वासुदेवकी भक्ति करना कोई नया धर्म नहीं था। वेद-कालसे आये हुए कुछ पुराने विशाल-सूत्रोंपर केवल अधिक बल देनेसे यह कार्य संपन्न हो गया। वेदरूपी पार्वतीय स्थलसे जो भक्तिके उद्रेकरूपी निर्झरका प्रवर्तित होना हमें दीख पडा, वही उपनिषद्रूपी दार्शनिक वनप्रदेशमें गुप्तरूपसे चलकर आगे गीताके समय स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है जब कि पुरानी विश्वासधारापर सिर्फ नया बल दिया जा रहा था।" (उक्त ग्रन्थका तीसरा पृष्ठ देखिये।)प्राध्यापक राधाकृष्णन् भी ऐसा मंतव्य रखते हैं। डॉ. भांडारकरसदृश विद्वान् भी गीता-प्रतिपादित भक्तिका आदिस्रोत वैदिक सूक्तोंमें पाया जाता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं (हमारी लिखी हुई Vedic Teachings and Ideals नामक पुस्तकमें पृष्ठ २७८—२८२ देखिये)।

अब हम यहाँपर गीतामें प्रतिपादित प्रमुख सिद्धांतोंको संक्षेपमें लिख देना उचित समझते हैं—

१. गीताको अभीष्ट है कि मानव, प्रकृतिसे परमात्मा-तक पहुँच जाय; वेदका भी यही कथन है।

२. अपनी सारी शक्तियोंको एवं क्षमताओंको समन्वयता-पूर्ण ढंगसे विकसित करके उपर्युक्त कार्यमें सफलता मिल सकती है।

३. इस कार्यके लिए श्रद्धा, कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति, संन्यास, अनासक्ति, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति आदि अनेक योगों या प्रणालियोंसे सहायता ली जा सकती है।

४. वेदके समानही गीतासे हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रकृतिकी शक्तियोंको उपयुक्त ढंगसे काममें लाना चाहिये। परंतु उनके जालमें फँसना नहीं चाहिये। वेदके जैसे, गीतासे बोध मिलता है कि संसारमें रहकर और सांसारिक बातोंसे लाभ उठाकर भी हम भौतिक जगत्के मनोमुग्धकारी एवं आपातरमणीय वस्तुओंके मोहसे ऊपर उठें।

५. वेदसे जिस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि परमात्माको ही सर्वस्व मानना चाहिये, उसी प्रकार यह समूचा विश्व सत्य है, अतः सनातन, अपरिवर्तनीय नियम अर्थात् धर्म, ऋतकी पवित्रता अनिवार्य रूपसे माननी चाहिये, उसके विरुद्ध कभी आचरण नहीं करना। चक्रनेमिक्रमका महान् नियम भी इसमें उपदिष्ट है, जिसके अनुसार घटनाएँ ताल-बद्ध ढंगसे घटित होती हैं। कर्म तथा पुनर्जन्मके महान् नियमका भी उल्लेख पाया जाता है।

६. वेदके समान गीता भी मानवके सामने, परमात्मासे संपर्क रखने, मित्रता करने, सहकारी बनने तथा उनके पुत्र-वत् बननेका महान् आदर्श उपस्थित करती है।

७. वेदके समानही गीता भी हमें उपदेश देती है कि हम अपना कर्तव्य कर्म निस्स्वार्थ भावसे और पूर्ण समभावसे करें तथा समझें कि समाजसेवा एवं देवपूजा (उदा० यज्ञ) का ही वह अंग है।

८. वेदके समानही गीता भी विस्तृत एवं हितकारक सहिष्णुताके भावका उपदेश करती है और केवल नास्तिक तथा पुराने अनिष्ट कर्ताओंके विरुद्धही अपनी आवाज बुलन्द करती है।

९. गीतामें पाई जानेवाली दिव्य अवतारवादकी कल्पना, वैदिक ऋषियोंके उन सूक्तोंमें, जहाँपर देवताएँ मनुष्यरूप धारण कर लेती हैं, बतलाई हुई कल्पनाके आधारपर बनाई हुई-सी जान पडती है। (देखो, ऋग्वेदके दशम मंडलके सूक्त ९०, ११९ और १२५)

१०. श्रीशंकराचार्यजीके कथनानुसार अति पुरातन वैदिक धर्मकाही पुनरुपदेश बलपूर्वक गीताने किया है और ऐसा करनेमें जिन विभिन्न वैदिक सूक्तोंके वर्णित सिद्धांतोंको पृथक् करके अलग अलग सम्प्रदायोंने मानों उन्हें अपना एकाधिकार मान लिया था, उनका समन्वयही कर डाला।

(५) वेद एवं गीताके मध्य विद्यमान संबंध—साहश्य

अब हम इन दो विख्यात ग्रन्थोंमें विद्यमान साहश्य-भाव एवं विरोधभावको दर्शायेंगे और प्रारंभमें उनके पर-स्पर संबंधका उल्लेख करना ठीक होगा। मानवी शरीरमें होनेवाली घटनाका दृष्टान्त देनेसे शायद गीता तथा वेदके पारस्परिक संबन्धको हम ठीक तरह समझ सकेंगे। शरीर-शास्त्रवेत्ताओंके कथनानुसार, हृदय क्षुब्ध किये हुए काल

रक्तप्रवाहको शरीरके सभी विभागोंतक पहुँचाता है। यह विशुद्ध रक्त Aorta नामक मार्गसे चला जाता है और यह रक्त मार्गसे बाहर निकल अनगिनती लघु तथा लघुतर सूक्ष्म रक्तवाहिनियोंमें विभक्त हो जाता है। पश्चात् समूचे शरीरके अंतर्विभागको आप्लावित कर प्रत्येक स्थानकी आवश्यकता-पूर्ति कर देता है। यह आप्लावन एवं पोषणका कार्य जब पूर्ण हो जाता है, तब वही रक्त पहले असंख्य सूक्ष्म रक्त-वाहिनियोंसे और पश्चात् बडी रक्तवाहिनियोंद्वारा हृदयतक पहुँच जाता है।

इस समय यह रक्तप्रवाह दूषित तथा वर्णमें नीला बनकर हृदयसे फेफडोंमें भिजवा दिया जाता है, जहाँपर फिरसे विशुद्ध हो हृदयको लौट आता है। इसी प्रकार वेदने भी समूचे मानवी जीवन, कर्म तथा व्यवहारके क्षेत्रको पुनीत, प्रोत्साहित एवं प्लावित करनेके लिए दिव्य धर्मकी पवित्र, उत्साहवर्धक और चेतनप्रद विचारधाराको प्रवर्तित कर दिया, ताकि मानव प्रकृतिसे परमात्मातक पहुँचनेमें सुगमताका अनुभव करे। अब देखिए कि संपूर्ण बौद्धिक व्यवहारमें तथा आदर्श एवं कल्पनामय जगत्में वैदिक विचारधारासे तादात्म्य पाने एवं एकरूप बननेकी क्रिया कैसे प्रचलित हुई। यह समय वेदोत्तरकालीन युगका था। जैसे मानवी देहमें विभिन्न इन्द्रिय एवं विभाग समान विशुद्ध रुधिरप्रवाहसे अलग अलग तत्त्वोंका आदान करते हैं वैसेही तत्कालीन विचार॰ जगत्में मानवोंके विभिन्न समुदायोंने समान वेदविहित विचारप्रणालीमेंसे पृथक् पृथक् सिद्धांतोंका ग्रहण कर विभिन्न पंथों एवं सम्प्रदायोंमें अपनेको विभक्त किया। येही पंथ आगे चलकर वेदांती, सांख्य, योगी, याज्ञिक, प्रवृत्तिमार्गी, निवृत्ति-पंथानुयायी, भक्तिमार्गी, संन्यासी, श्रमण, भिक्षु, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि नामोंसे विख्यात हुए।

ये सभी अलग संप्रदाय, मतमतांतर एवं पंथ वेदोत्तर युगकी साधारण प्रचलित विचारधारामें तथा विचारपरिवर्तनमें सभी तरहके दूषित एवं एकांगी तथा निरुपयोगी बातोंका समावेश करते गये और यह संपूर्ण बुरे तथा अच्छे विचारोंका महान् समुदाय पुराणों एवं महाभारतमें एकत्रित हो गया जिसे 'पंचम वेद' नाम मिला, क्योंकि पूर्ववर्ती चार वैदिक संहिताओंसे यह विभिन्न था। मानवी हृदयके दो विभाग होते हैं, एक विभाग विशुद्ध कालिमायुक्त रुधिर-प्रवाहको शरीरमें भेज देता है और दूसरा विभाग अशुद्ध एवं नीले रक्तप्रवाहका ग्रहण करता है। वैसेही वेदचतुष्टयने विशुद्ध धार्मिक सिद्धांतोंका प्रसार किया था और इस पंचम वेदने, अर्थात् पुराण एवं महाभारतने सांप्रदायिक विचारप्रवाह-रूपी दूषित विचारधाराका ग्रहण किया।

उस समय एक अज्ञात, अतिविचारशील एवं महाबुद्धिमान् महान् पुरुषने इस पंचम वेदका शुद्धीकरण कर गीताका सृजन किया और यह ग्रन्थरत्न रामायणके साथही पंचम वेद नाम पानेका पूर्ण पात्र दीख पडता है, क्योंकि ये ग्रन्थ वेदके पवित्र, दिव्य, एवं पुरातन उपदेशोंकाही प्रचार करनेके लिए ही उत्पन्न हुए थे। भगवद्गीता, रामायण तथा महाभारत और पुराणोंके कुछ अच्छे विभागोंको पंचम वेद नाम ठीक तरहसे लागू हो सकता है, यदि इनमें विद्यमान उत्कृष्ट बातोंसे संमिश्रित बुरी बातोंको, जो स्पष्टतया वैसे प्रतीत होती हों, पृथक् करें।

इतने कथनसे वेद तथा गीताके मध्य विद्यमान संबंधको हम भलीभाँति तथा स्पष्ट रूपसे समझ सकते हैं। अब हम इस लेखके प्रमुख प्रतिपाद्य विषयकी अधिक चर्चा करेंगे और वेदसे मंत्र एवं गीतासे श्लोक देकर बतलायेंगे कि किस तरह वेदमें तथा गीतामें विचार-साम्य एवं कल्पना-सादृश्य है। स्थलाभावसे और सुगमताके लिए दोनों ग्रन्थोंसे थोडेसे अवतरण यहाँ दिये गये हैं, पर जो इस विषयकी अधिक जानकारी पानेके इच्छुक हों वे टिप्पणीमें दिये उल्लेखोंकी ओर ध्यान दें।

(अ) वेद और गीताके समान, अभिन्न सिद्धान्त

(१) दोनोंका प्रमुख उद्देश्य मानवको प्रकृतिसे परमात्मातक पहुँचाना है।

वेदमंत्र

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥
(ऋग्वेद १।५०।१०)

"(वयं तमसः परि उत्) हम अज्ञानरूपी अंधकारके ऊपर प्रकृतिका बाह्य रूप भलीभाँति समझकर (उत्तरं ज्योतिः पश्यंतः) पश्चात् सूक्ष्मतर आत्मिक बातोंकी जान-

कारी पाकर (देवं देवत्रा) दिव्य एवं देवोंमें सर्वोपरि (सूर्य उत्तमं ज्योतिः अगन्म) प्रकाशके आदिस्रोतको अर्थात् अति सूक्ष्मतम दिव्य प्रकाशको प्राप्त हुए हैं । ''

गीताके श्लोक

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

(गीता १३।२)

'' शरीर, जीव और परमात्माका ज्ञान सच्चा है । ''

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥ (गीता अ. ७)

'' जो मानव परमात्मापर विश्वास रखकर बुढापा और मृत्युसे छुटकारा पानेके लिए चेष्टा करते हैं, वे समूची क्रिया, जीव एवं उस महान् परमात्माकी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं । ''

(२) संसारवृक्ष, प्रकृति और विश्वके बारेमें आलंकारिक कल्पना ।

वेदमंत्र

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः । नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ॥ (ऋ. १।२४।७)

'' (पूतदक्षः राजा वरुणः) शुद्ध बलसे युक्त और प्रबल वरुण (वनस्य स्तूपं) वृक्षके ठंठलको (अबुध्ने ऊर्ध्वं ददते) अथाह स्थलमें ऊँचा कर रख देता है, (उपरि बुध्नः) इसका मूल ऊपर है और (अस्मे अंतर्निहिताः) इसमें भीतर रखे हुए (एषां केतवः) इसकी टहनियाँ और शाखाएँ (नीचीनाः स्थुः स्युः) निम्न स्तरमें फैले हों । ''

गीताका श्लोक

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
(गीता अ. १५)

''ऊपर मूल (जड)वाला और निम्नगामिनी शाखाओंसे युक्त यह संसाररूपी वृक्ष सनातन है। वैदिक सूक्त इसके पत्तोंके समान है। इससे जो परिचित हो वही वेद जानता है । '

(३) परमात्मा, विश्वात्मा, व्यापक, निर्माता एवं सबका शासक ।

वेदमंत्र

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

(ऋ. १०।८१।३)

''(एकः देवः) वह अकेला दानी तथा शासक (विश्वतः चक्षुः उत विश्वतः मुखः) जिसके नेत्र एवं मुँह मानों चारों ओर हैं (विश्वतः बाहुः उत विश्वतः पात्) जिसके हाथ एवं पाँव चतुर्दिक् हैं, (द्यावाभूमी सं जनयन्) वह द्युलोक एवं भूलोकको ठीक प्रकार निष्पन्न करता हुआ (पतत्रैः बाहुभ्यां सं धमति) गिरनेसे बचानेवाले अपने बाहुओंसे ठीक तरह प्रेरणा देता है । ''

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
(ऋ. १०।९०।१)

' उस सर्वव्यापक महान् परमात्माके सहस्रों मस्तक, नेत्र एवं चरण हैं । '

गीताके श्लोक

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
(गीता अ. १३)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
(गीता अ. १३)

'' उस परमात्माके सर्वत्र हाथ, पाँव, सब ओर आँख, सिर तथा मुख और सब ओर कान हैं । वह सर्वत्र व्याप्तिमान् है । उसमें सर्व इन्द्रियोंके गुणोंका आभास है, तो भी वह सर्व इन्द्रियोंसे रहित है । वह आसक्तिरहित, सबका भरणपोषण करनेवाला, गुणरहित होनेपरभी गुणोंका भोक्ता है । '

(४) परमात्माकी सर्वव्यापकता, वही सब कुछ है ।

वेदमंत्र

त्वं अग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः । त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते......
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः त्वं मित्रो

भवसि दस्म ईड्यः । त्वमर्यमा सत्पतिः......
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः......
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे. ...
त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे... (ऋ. मंडल२, सूक्त १)

"(अग्ने) हे परमात्मन् ! (त्वं सतां वृषभः इन्द्रः असि) तू सज्जनोंके लिए इच्छाओंकी पूर्ति करनेवाला प्रभु है, (त्वं नमस्यः उरुगायः विष्णुः असि) तू नमन करनेयोग्य, विशाल कीर्तिवाला एवं व्यापक शक्तिसे युक्त है। (ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञानके स्वामिन् प्रभो ! (त्वं रयिविद् ब्रह्मा) तू रमणीय धन जतलानेहारा एवं महान है। (त्वं धृतव्रतो राजा वरुणः) तू नियमोंका धारण करनेहारा एवं विराजमान दुःखहर्ता है। (त्वं ईड्यः दस्म) तू प्रशंसनीय एवं दर्शनीय (मित्रः भवसि) मित्र बनता है, (त्वं सत्पतिः अर्यमा) तू सज्जनोंका पालन करनेवाला अर्यमा (त्वं महः दिवः) तू महान् द्युलोकका (असुरः रुद्रः) प्राणदाता रुद्रदेव है। (नृपते) हे मानवोंके पालक! (भगः वस्वः ईशिषे) भगरूपी तू धनका प्रभु है। (देव अग्ने) हे दानादिगुणपरमात्मन् ! (दाशुषे त्वं अदितिः) दानीके लिए तू अदिति अर्थात् अखंडरूपी है।

गीताके वाक्य

आदित्यानामहं विष्णुः ...... देवानामस्मि वासवः । ...ज्योतिषां रविरंशुमान् । रुद्राणां शंकरश्चास्मि । वरुणो यादसा-हम् । पितॄणामर्यमा चास्मि । वसूनां पावकश्चास्मि । यमः संयमतामहम् । पवनः पवतामस्मि । धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ (गीता अध्याय १०)

(५) परमात्माका प्रेम, औदार्य—परमात्माने प्राणियोंको प्रेमकी देनके रूपमें यह विश्व रचा है ।

वेदमंत्र

हर्यन्नुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः ।
द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम् ।
अधारयत्... (ऋग्वेद ३।४४।२,३)

"(हर्यन्) प्रेमके वशीभूत होकर (उषसं अर्चयः) तूने उषःकालको प्रकाशमान किया है, (सूर्यं हर्यन् अरोचयः) सूर्यको भी प्रेमके कारण द्योतमान किया है, (इन्द्रः) परमात्मा (हरिधायसं द्यां) द्युलोकको स्वर्णरेखा-प्रवाहोंसे और (पृथिवीं हरिवर्पसं अधारयत्) भूलोकको हरितिमासे आछन्न रूपमें धारण कर चुका है।

गीताके श्लोक

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां...... (गीता अ. ५.२९)

'परमात्मा सब प्राणियोंका मित्र है और वह सबका स्वामी होता हुआ उनके यज्ञ, तप आदिका ग्रहण करता है । '

(६) निष्काम कर्म, स्वार्थरहित सेवा और परोपकारकी क्रिया आदि ।

वेदमंत्र

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥ (ऋ. ५।५१।१५)

गीताके श्लोक

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ (गी. ५ १०)

" जो आसक्तिरहित हो परमात्मामें दत्तचित्त होकर निस्स्वार्थ भावसे कार्य करता है, वह कमलपत्र जैसे जलसे वैसेही पापसे दूषित नहीं होता है । "

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो (गी. ४. २०)

" स्वार्थरहित मनुष्य कर्मके फलकी आसक्तिका त्याग करके पूर्ण मनःशांति पाता है । '

(७) निस्स्वार्थ समाजसेवाके रूपमें यज्ञकी उच्च कल्पना।

(६) गीतामें वेदके संबंधमें पाये जानेवाले उल्लेख

अनेक स्थानोंमें वेदविषयक उल्लेख गीतामें दीख पडते हैं, पर यहाँपर हम एक उल्लेखकी अधिक चर्चा करना चाहते हैं। क्योंकि इसके कारण अनावश्यक विवाद एवं कटुता उत्पन्न हुई है, जिसकी जडमें गीताके भाष्यकारोंमें विद्यमान, वैदिक स्वतःप्रकाशताके वास्तविक स्वरूपका अज्ञानही था। इन्होंने वेद और गीताके मध्य व्यर्थ एवं मिथ्या विरोध खडा किया है । इनकी धारणा है कि गीताके दूसरे अध्यायके श्लोक ४५, ४६ में वेदपर प्रत्यक्ष आक्रमण किया है और इसके समर्थनार्थ वे व्याकरण, सन्दर्भ एवं ठीक विचारसरणीके खिलाप अर्थ कर बैठते हैं । जहाँ वेदकी स्तुति की गयी है, वहाँपर भी वे निन्दाके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं पाते हैं । यहाँपर हम सत्य एवं मिथ्या दोनों अर्थोंको लिख देना ठीक समझते हैं ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
(गी. २।४५)

इस श्लोकका मिथ्या अर्थ यों किया जाता है— 'सत्त्व, रज और तमकी चर्चा वेद करते हैं जो कि प्रकृतिके तीन घटक हैं। हे अर्जुन ! इन तीनोंके परे तू चला जा पर केवल सत्त्वमें तू अटल रूपसे रह।'

इसी श्लोकका सत्य अर्थ यूं किया जा सकता है— 'वेदका प्रमुख उद्देश्य है कि मानवको निम्नतम स्तरसे मध्यम स्तर होते हुए उच्चतम स्तरतक ऊँचा उठाना, अतः हे अर्जुन ! तू उस ऊँचेसे ऊँचे पदतक अपनेको उठाकर उस दशामें अटल रूपसे अवस्थित हो जा।'

अथवा

वेद मानवसे तीन गुणों या बन्धनोंसे छुटकारा पानेके लिए कहते हैं, इसलिये हे अर्जुन ! उन तीनोंको अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिकको तोड दे।'

यावानर्थ उद्पाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

इसका असत्य अर्थ ऐसा किया जाता है– 'शिक्षित एवं ज्ञानी पुरुषके लिये संपूर्ण वेदोंका उतनाही उपयोग है जितना कि समूची जगह पानीसे आप्लुत हो जानेपर एक तालाबका होता है।'

पर इसका वास्तविक अर्थ ऐसा हो सकता है- 'ज्ञानी पुरुषको वेदसमूहकी उतनीही उपयुक्तता है जितनी उस तालाबकी जहाँ चारों ओरसे पानी आ गिरता है।'

गीताके दूसरे अध्यायके ४५ वे श्लोकपर गीताभाष्यकारोंने जो अर्थ लादा है उसे यदि हम मान लें तो हमारे सामने एक अति जटिल समस्या उठ खडी होती है कि मानव कैसे सत्त्वके परे जाकर सत्त्वमेंही अटल रूपसे रह सकेगा ? ४६ वें श्लोकमें 'सर्वतः संप्लुतोदके उद्पाने' वाक्यखंड व्याकरणानुसार सति सप्तमीका (Locative absolute) प्रयोग है। ऐसा माननेसे अच्छा अर्थ भी निकल आता है। पर शोकसे कहना पडता है गीताके टीकाकार सभी नियमोंके विरुद्ध इसके दो टुकडे करते हैं और बतलाना चाहते हैं कि वेदकी निंदा गीतामें पाई जाती है !!!

इसलिये इन भाष्यकारोंके अनुगामी न होकर यदि हम सन्दर्भ, व्याकरणशास्त्र तथा तर्कशास्त्रका अनुसरण करें तो उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका बडाही सुसंगत एवं सरल सुन्दर अर्थ प्राप्त होता है जिसमें निन्दाकी बजाय वेदकी सराहना प्रतीत होती है। पिछले तीन श्लोक, (२।४२-४४) केवल उन मूर्खोंकी निंदा करते हैं, जो यज्ञके वास्तविक अर्थको या उद्देश्यको भूलकर और सिर्फ धनसम्पदा तथा यश चाहते हुए निम्न कोटिकी विषयलिप्सासे प्रेरित होते हुए वेदके वास्तविक अर्थकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर वेदके अक्षरोंपर निरर्थक बडी सूक्ष्मतासे बहस करते हुए कहते हैं इससे अधिक कुछ करना नहीं हैं।

इनसे यह अभिप्राय नहीं निलकता है कि यज्ञसंस्था या वेदकीही निंदा की गयी हो, क्योंकि गीतामेंही अन्य स्थानोंपर दोनोंकी यथेष्ट प्रशंसा की गयी है' दोनों आवश्यक समझे गये हैं; लेकिन हाँ, जो अज्ञानी एवं स्वार्थी लोग मूर्खतावश यज्ञ करते हों उनकी इन श्लोकोंमें निंदा की गयी है। क्योंकि निस्स्वार्थ सेवा और निष्काम कर्मकी दृष्टिसे देखनेपर यही ठीक है। ऐसी गलतफहमी न हो इसलिये अगले दो श्लोकोंमें गीता साफ कह देती है कि वेदका मूल्य महान् है, अतः उसे ठीक तरह समझना चाहिये। अब हमें ज्ञात होता है कि सन्दर्भ, व्याकरण एवं तर्क भी हमारे पक्षमें हैं और गीताके कुछ श्लोकोंपर जो मिथ्या अर्थ लादा जाता है ताकि लोगोंको यह भ्रम हो कि गीता वेदकी निंदा करती है और वैदिक शिक्षाका विरोध करती है, उसका खंडन होता है।

(७) विभिन्नताके पहलू; वेद और गीताके बीच कौनसी विभिन्नता है ?

यह संक्षेपमें बतलाया जा सकता है क्योंकि ये संख्यामें बहुत थोडे हैं, लेकिन वे इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वेदकाही एक अधूरा एवं अपूर्ण प्रतिबिंब गीतामें दीख पडता है, जैसे कि चन्द्रमा सूर्यकिरणोंको परावर्तित करता है। आइये, हम देखें कि यह कैसे है।

वेद सनातन एवं आद्य हैं। गीता मध्ययुगीन नश्वर है यद्यपि कुछ अधिकांशमें भूले हुए सिद्धांतोंकी शिक्षा, जो कि सनातन सत्य हैं, गीता देती है। वह परमात्माका सनातन शब्द है, वाणी है जो प्रत्येक सृष्टिके प्रारंभमें उन ऋषियोंद्वारा, जो पिछली सृष्टिके अंतमें ज्ञान एवं बुद्धिकी चरम सीमातक पहुँचते हैं, नूतन प्रतीत होनेवाले ढंगसे कही जाती है।

आर्योंकी विजयका मूलमन्त्र

(विश्वशान्तिका उपाय, गायत्री-मन्त्र)

(लेखक- श्री० मदनमोहन विद्यासागर, प्रेम-मन्दिर, तेनाली, मद्रास)

१. विषय प्रवेश = गायत्री-मंत्र

वैदिक सनातन धर्म-जिसे आजकल (भ्रमसे) प्रचलनमें हिन्दूधर्म नाम दिया जाता है—का आधार-शिला चार वेद है, जो कि मानवजातिके पुस्तकालयमे प्राचीनतम ग्रन्थ माने गए हैं। आर्य जाति इन्हें ईश्वर-प्रदत्त मानती है। उसका विश्वास है कि मानवमात्रके कल्याणार्थ सर्गादिमें परमेश्वरने इसका ज्ञान दिया। बहुत समयतक न केवल भारतवर्षमें ही अपितु इतर प्रपंचमें भी इन्हीं वेदोंकी शिक्षाओंका प्रचार रहा। यही कारण था कि 'आर्यजाति' उस समय अभ्युदय और निःश्रेयसकी चरम सीमापर पहुँची हुई थी। आर्यजातिसे मेरा अभिप्राय उस मानवसमुदायसे है जो "उत्तम आचरणको करता है, दुराचरणसे दूर रह, परस्पर सहयोग-भावसे सदा प्रगतिशील रहता है।" क्योंकि प्राचीन कालमें भारतदेशमें वसनेवालोंने इस प्रकारका आचरण किया इसीलिये आर्यजातिको भारतमें वसनेवाली मानता हूं।

चारों वेदोंका निचोड या सार विद्वानोंने गायत्री मन्त्रको माना है। इसीलिये हिन्दुओंमें इसके जापसे 'परम कल्याण=भवसागर-तरण' माना जाता है। बहुत दिनोंसे मैं इसपर विचार कर रहा था कि वेदोंका सार गायत्रीको क्यों कहा गया है? गायत्रीमें ऐसी कौनसी विशेषता है, जो इसको इतना महत्वपूर्ण पद मिला है! न जाने कितने सोच विचार अन्तर्ध्यानके पश्चात् इसका रहस्य मेरे सामने एक दिन अचानक खुला।

२. 'गायत्री-मंत्र' का अर्थ—

यजुर्वेदके प्राचीन भाष्य 'शतपथ-ब्राह्मण' नामक प्रामाणिक ग्रन्थके अनुसार 'गया' शब्दका अर्थ प्राण है। ऐसाही महर्षि दयानन्दने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में माना है। 'गया' ही 'गाय' है। 'त्राण' शब्दका अर्थ रक्षण होता है। यह 'गायत्री' शब्द 'गया (=गाय) + त्राण' इन दो शब्दके मेलसे बना है, जिसका अर्थ हुआ 'प्राणरक्षण'।

मन्त्र शब्दका अर्थ होता है मनन, साइन्स, विद्या, ज्ञानशाखा। इस शब्दनिर्वचनसे स्पष्ट हुआ कि 'गायत्री-मंत्र' में वह रहस्य वर्णित होना चाहिये, जिससे किसी जाति या व्यक्तिकी प्राणरक्षा हो, वे सदा सुखानन्दभोग करते रहें। इस प्रकार 'गायत्री-मंत्र' इस शब्दका अर्थ हुआ 'प्राण-रक्षण-विद्या' – 'साइन्स ऑफ लाइफ' इसीको साधारण जनता 'तारक' मंत्र इस नामसे कहती है, पर पूरे तौरपर इसके भावको नहीं समझती। यह हमें यहां भी समझ लेना चाहिये कि यह 'प्राणरक्षा' केवल मानवजातिकी ही नहीं अपितु समस्त 'जीवित' जागृत प्राणीमात्रकी है। जिवात्मा चाहे किसी भी योनिमें क्यों न हो, उसका रक्षण= पूर्ण विकास आवश्यक है।

३. जीवन-रक्षा

परमेश्वरने इस जगत्में पिछले कियेका फल भोगने और नये बीज बोनेके लिये जीवात्माको भेजा है। वह ८४ लाख योनियोंमें इसीलिये आ जा रहा है। यही हमारी जीवन-धारा है। जो कुछ भी हम कर रहे है उसके आधारमें 'जीवनरक्षा' 'जिन्दगीका बचाव' 'प्राणोंका त्राण' यही भाव काम कर रहा है।

स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जनास्तत्पराः।
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥

सबल निर्बल, धनी निर्धन, मूर्ख विद्वान्, कोई भी क्यों न हो अपने प्राणोंको गंवाना नहीं चाहता। बिमारियोंसे दुःखी संतप्त व्यक्ति भी प्राणोंके मोहको नहीं छोडता। इस जीवनकी रक्षाके लिये मनुष्य न जाने कितने कितने भयानक कृत्य करता है! कितने अनुचित उपायोंका अवलम्बन करता है! आश्चर्य कि सहस्रोंवार 'नैतिक मृत्यु' से भी अपने जीवनको बचाना चाहता है।

यही हाल जातियोंका है। कुछ व्यक्तियोंके समुदायका नाम समाज है। जब वह बहुत देरतक एक भूमिस्थलपर बसा रहता

है, उसमें आचार विचार एक हो जाते हैं, भाषा सबके मुख-स्रोत से एकजैसी सरती है, तब उसे 'जाति' की परिभाषा मिल जाती है।

जब समस्त भूतलपर इस प्रकार कि बहुत सारी (मानव-समुदायरूप) जातियां विकसित हो जाती हैं, तब वे भी अपने स्वार्थोंसे प्रेरित हो एक दूसरेके भयानक विनाशपर तुल जाती हैं, एक जाति दूसरी जातिके सब अधिकारोंका अपहरण करनेपर कटिबद्ध हो जाती है। उस समय न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्मको कोई पूछता नहीं।

इसकी तहमें भी दर असल 'जीवनरक्षा' का भावही प्रेरक हेतु होता है। एक जाति अपने जीवनको बहुत दीर्घकालीन बनाये रखनेके निमित्त ही ऐसा करती है। जब यह भाव पूर्ण स्वार्थमय हो जाता है, उस समय फिर भूतलपर 'रक्तप्लावन' हो जाता है, बडी बडी लडाइयां लडी जाती हैं। यह चक्कर चलता ही रहता है।

यहां हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि 'जीवो जीवस्य भोजनम्' कह कर जिन बेबस पशुपक्षियोंके ढेरके ढेरको हम उदररूपी कन्सेन्ट्रेशन कॅम्पमें भरते हैं, वे भी अपनी जीवनरक्षा चाहते हैं, हमारे हाथसे छूटकर हरी हरी घास चरना चाहते हैं, मीठे मीठे दाने चुगना चाहते हैं; शीतल पवन पीनेकी आकांक्षा रखते हैं, जलमें आनन्दसे स्वच्छन्द विचरनेको पसन्द करते हैं।

वृक्ष-वनस्पति भी काटे जानेपर दो अश्रु बहाये बिना नहीं रहता। पर लाचार है!

४. सुखाभिलाषा

यह 'जविन-रक्षा' क्यों? यह सब चहल पहल धींगा मुश्ती का क्या कारण? इसीलिये कि मनुष्य सुख चाहता है। यही नहीं कि मानव अपितु संसारमें मुझे तो ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि प्राणीमात्र सुख ही चाहता है। यही सुखप्राप्तिकी अतिशय अभिलाषा स्वार्थका चोला पहिन भयानक उत्पात मचा देती है।

मनुष्य व जातियां समझती हैं कि कौन जाने कल क्या हो, चलो सुखसाधक सामग्री इत्नी इकट्ठी कर लो कि कभी दुःख पास ही न आ सके। तब शोषण प्रारम्भ हो जाता है जो कि विषमताका प्रधान हेतु है। इसमें मूलकारण सुखाभिलाषा ही है; यद्यपि इसकी तीव्र निरन्तर अतिशयमात्रा दुःखही उत्पन्न कर देती है।

प्राणियोंमें निकृष्टतम प्राणी वामनावतार भी यह मत समझो नीरस हृदय लिये है। उसमें भी सुखाभिलाषा है, चाहे वह कलापूर्ण न भी क्यों न हो?

यदि वृक्षवनस्पतियोंमें सुखाभिलाषा न होती तो प्रकृति में 'वसन्त' की बहार कभी न होती।

इस सुन्दर विशाल प्रकृतिकी प्रत्येक क्रिया हमारे भलेके लिये ही है, प्रकृतिका विधान हमारे आराम सुखके लिये ही है। यह बात और है कि उपाय ठीक न करनेसे हम दुःखी हों।

इस प्रकृतिका एक एक कण सुखसुधापूरित मधु-घट है, जिसे ठीक न संग्रह कर हम तोड फोड कर दुःखी हो रहे हैं।

दूसरी बात इस विषयमें यह ज्ञात रखनी चाहिये कि सुख-प्राप्ति (जिसे दार्शनिक परिभाषा में अभ्युदय और निःश्रेयस् नाम दिया गया है) जो जीवनरक्षाका आधार है, वह बिना बुद्धिके प्राप्त नहीं हो सकती है। चाहे कोई जाति या समाज हो और चाहे कोई व्यक्तिविशेष हो, बिना बुद्धि सोच समझ के जीवित नहीं रह सकते। जो बुद्धिमान् है वह मरते मरते भी बच जाता है, यमराजके दूतोंके हाथोंमें पडकर भी सहीसलामत मुसकराता बाहर निकल आता है। इसके विपरीत नासमझ जीता जीता भी मर जाता है, बचता बचता मृत्युगर्त में समा जाता है। इसीलिये बुद्धिमान् जनोंने कह दिया—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्?

इस बुद्धिके द्वारा हमने ऐसा तरीका निकालना है जिससे हमें सदा सुख मिलता रहे। पर इसका यह अभिप्राय कभी भी नहीं कि केवल बुद्धि ही सुखोपभोगका साधन है। इसके लिये शारिरिक बल भी अपेक्षित है। सामने पदार्थ पडे हों, यह भी निश्चय कर लिया गया हो कि ये सब मधुर हैं। पर उस समय यदि पेट न हो तो भी सुखाभिलाषा व्यर्थ है। बुद्धिके द्वारा तो एक प्राणी सुखके लिये अभिलषित पदार्थको पहिचान उसकी प्राप्तिका मार्ग ढूंढता है; पर उसके उपभोग आस्वादनके बिना सुखानुभूति हो ही नहीं सकती, जिसके लिये शारीरबलकी आवश्यकता है।

वेदोंमें मनुष्यको 'श्री'मान् बननेका उपदेश है। सब प्रकार-के सुखसंग्रहका नाम श्री है। यह धन, वैभव, ऐश्वर्य, कीर्ति इन

सबका बोधक शब्द है। इसको प्राप्त करनेके लिये ब्रह्म= ब्राह्म शक्ति और क्षत्र= क्षात्रबलका सम्पादन आवश्यक बताया है। साधारण भाषामें इसीको बुद्धि-बल व शारीरिक शक्ति द्वारा सुखोपभोग करना या मनोरथ-तृप्ति कहा जाता है।

५ सुखकी बाह्य परीक्षा

यद्यपि सुखका दार्शनिक विवेचन करनेका यह प्रसंग नहीं तथा ऐसा करनेके लिये स्थान भी बहुत अपेक्षित है, तथापि दो चार शब्द इसपर कह देना अत्यंत आवश्यक समझता हूं। क्योंकि इसके समझे विना 'विषय' का बोध होना दुष्कर है।

उसके आन्तरिक लक्षणपर कुछ न कहूंगा। यहां तो मैं उन निर्देशों, चिह्नों परीक्षाओंका प्रतिपादन संक्षेपसे करूंगा, जिनसे सुखका स्वरूप समझमें कुछ कुछ आ सके।

दुःखका अभाव सुख है। इस दुःखके तीन रूप हैं- "भूख, बेकारी और गुलामी।"

इसीको संस्कृत परिभाषामें क्षुत्पिपासा, नैष्कर्म्य (आलस्य+ दरिद्रता), पराधीनता या अस्वतंत्रता कहते हैं। हमें एक एकपर अच्छी प्रकारसे विचार करना चाहिये।

(क) बुभुक्षा

सबसे प्रथम बुभुक्षाको लेते हैं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि-

'**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्!**' यह पापी पेट ही सब दुःखोंका मूल है। भूखा जो कर बैठे सो थोडा है। पंजाबी में एक कहावत है- "पल्ले पइयां रोटियां ता सब्बे गल्लां मोटियां।" पेटमें रोटी होती हो तो सभी बातें अच्छी होती हैं। "पल्ले नहीं रोटियां, तौं सब्बे गल्लां खोटियां।" भूखेकी सब बातें खोटी मानी जाती हैं। पेटकी आग मनुष्यकी दिमाग भी गरम कर देती है, जिसमें 'मानवता ही त्रस्त हो जाती है। दुनियामें 'भूखा रहे सूखा, भरा रहे हरा।' संसारमें पाये जानेवाले अधिकांश पापोंका प्रधान कारण यही भूख है।

यह भूख (या प्यास) दो प्रकारकी है। पेट सम्बन्धी तथा दिमागी। हो सकता है कि एकके पास खाने पीनेका सामान पर्याप्त मात्रामें हो, पर उसकी जिज्ञासारूपी भूकको निवारण करनेका भोजन न हो; वह भी दुःखी ही रहेगा। कईयोंका विशेष करके हमारे समाजवादी भाईयोंका यह कहना कि यदि सबको रोटी कपडा मिल जावे तो 'अमन चैन' हो जावे, पूर्णतः ठीक नहीं। मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है। प्रकृतिको देख उसके मस्तिष्कमें खलबली मच जाती है। यह उसकी बौद्धिक या आध्यात्मिक भूख है, इसकी निवृत्ति भी परम आवश्यक है। शास्त्रकारोंने 'अन्नं ब्रह्म' की उपासना कही तो अवश्य है, पर साथ ही उससे ऊपर जानेको भी कह दिया है।

इस दिशामें बच्चेका उदाहरण उपयुक्त होगा। भूखी माता समझती है कि बच्चेके रोनेका सदा कारण भूख है। वह समय बेसमय मुखमें स्तन ठूंस ठूंसकर उसे चुप करती है। वह भूल जाती है कि उसके रोनेके अन्य भी कारण हो सकते हैं। यही हालत मानवकी है। उसकी भी ठीक ठीक भूखको पहिचाननी चाहिये।

(ख) बेकारी

दूसरी चीज है बेकारी। इसके भी मोटे तौरपर दो रूप है। एक तो रोजगार या काम न मिलनेसे बेकार रहना। साधारण लोग इतनेकोही बेकारी समझते है। दूसरा पैसा पास होनेपर भी, हाथपर हाथ धरे या मक्खी मारते रहना भी मैं बेकारीमें ही गिनता हूं। इसीको निकम्मापन कहते है। 'निकम्मा' बैठना घर बैठे शैतानको न्योता देना है। निठल्ले आदमी मानों नरकका मार्ग अपने लिये स्वयं ही बना लेते हैं।

किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, विना कार्यके रहना बेकारी है। मैं तो इसे भी बेकारी समझता हूं कि मनुष्यके पास किसी करने योग्य कार्यका न बचना अर्थात् कार्य-समाप्ति। वैदिक आदर्श '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**' का है [यजुर्वेद ४० अध्याय]

अर्थात् मनुष्यको चाहिये कि वह कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे। क्योंकि निरन्तर कर्म करनेवालोंपर ही देव प्रसन्न होते है; उसेही दिव्य शक्तियां मिलती है। आलसीको कौन पूछता है? 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।' प्रयत्नसेही सब मनोरथ सिद्ध होते है। सोते शेरके मुखमें भी पशु गिर नहीं पडते।

"**शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर**"(ऋग्वेद) यहां मनुष्यको सौ हाथोंसे परिश्रम करनेको कहा है; यद्यपि उसके दोही हाथ हैं। परन्तु जहां दो हाथोंवाले इन्सानके लिये सौ हाथसे कमाना (अर्थात् अपने जीवनयोग्य कार्योंका निर्वाहण) लिखा है तो परोपकार हजार हाथों द्वारा करनेको कहा है। इस आदर्शवाला मनुष्य क्योंकि कभी बेकार या खाली नहीं, इसलिये सदा सुखी है। नाना प्रकारकी आधिव्याधियां, दुर्भिक्षादि दरिद्री आलसी मानवोंके पास ही आते हैं। धनी सदा बीमार, किसान सदा स्वस्थ क्यों? इसीलिये कि वह

खाली नहीं बैठता। प्राचीन कालमें हमारे पूर्वज आर्योंके सदा विजयी रहनेकी यह भी एक वजह थी। उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था द्वारा समस्त जातिको कर्मनिष्ठ बना दिया था। हर-एकको उसकी योग्यता व सामर्थ्यके अनुकूल कार्य दे दिया था। इसीलिये यहा न चोर था, न दुर्भिक्ष था, न व्यभिचार था।

(ग) पराधीनता

तीसरी चीज गुलामी है। साधारण तौरपर गुलामीका अर्थ लोग एक जातिका दूसरी जातिके नीचे होना समझते हैं। यह भी ठीक है। पर पूरे तौरपर नहीं। हमें तो इसका सच्चा व्यापक अर्थ अपने सामने रखना चाहिये। एक स्वतन्त्र समझे जानेवाले देशमें भी यदि व्यक्तिके विकासका उचित अव-काश नहीं, वहा भी गुलामी ही है। रशियामें प्रजास्वातंत्र्यके नामपर यदि धर्म और ईश्वरपर विश्वास रखनेवालोंपर अत्याचार होता है, उन्हें धिक्कारतकी निगाहसे देखा जाता है तो इसे कौन बुद्धिमान् स्वतन्त्रता कह सकता है? वहां पहले यदि धार्मिक तौरपर गुलामी थी, तो अब राजनैतिक है। हम रशिया सम्बन्धी पुस्तकोंमें पढते हैं कि वहां धर्म और ईश्वर-पर विश्वास रखनेवालोंको नौकरी नहीं दी जाती थी। कवित्व करनेवालोंपर यह पाबन्दी थी कि वे तारोंके पार न झांकें, चन्द्रमें प्रवेश न करें, युवतीकी पलकोंके पीछे छिपे संसार को न देख सके। यह सब गुलामी नहीं तो क्या है। तुलसी-दास महाकविने सत्य कहा है—

'पराधीन सुख सपनेहि नांहि'=पराधीनको तो स्वप्न में भी चैन नहीं। वर्तमान कालमें इस पराधीनताने विश्व-शान्ति व व्यवस्थाको सर्वथा छिन्नभिन्न कर दिया है। यदि एक देश दूसरे किसी देश द्वारा पराधीन नहीं तो 'एक दल' के शासनने दूसरे दलवालोंके सींखचोंमें, जंजीरोंसे बांध, डाला हुआ है। विचार व लेखन स्वातंत्र्य, स्वात्मनिर्णयका अधिकार ये स्वतंत्रताकी वास्तविक कसौटियां हैं। पर क्या कहीं नजर आते हैं?

साथ ही गुलामीके दो और पहलूभी सदा ध्यानमें रखने चाहिये पहला मानसिक गुलामी है। जैसे भारतवर्षमें आजकल मानसिक गुलामीका भयानक ताण्डवनृत्य हो रहा है। इसमें राज-नैतिक पराधीनतासे भी अधिक भयानक व दुःखदायी समझता हूं। क्योंकि पूरे तौरपर पराधीनताका कारण यही होती है। यही कारण है कि एक जाति दूसरी जातिको गुलाम बनानेके लिये, उसकी भाषा, सभ्यता आचारविचार, धर्म आदि सबका विनाश कर देती है। उस समय गुलाम जातिमें 'अपनेपन' का भाव ही नष्ट हो जाता है। वह पंगु बन जाती है, उसका स्वाभाविक विकास रुक जाता है और 'अकृत्रिमता' उसकी नस नसमें भर उसे जर्जरित कर देती है। हमने अपनी भाषा, वेशभूषा, आचार, धर्म, सभ्यता, साहित्यका सर्वथा परित्याग कर दिया है। वैसे तो विश्वका इतिहास इसीकी ज्वलन्त कहानी है।

इसका दूसरा पहलू सांसारिक गुलामी है अर्थात् हम विषय-भोगोंके इतने अधिक पराधीन हैं कि जीवन भर सत्कार्य करनेकी फुर्सत नहीं मिलती। बलवान् इन्द्रियोंके वशमें चले जाना, मन के चलाये चलना, आत्महनन करना ये भी पराधिनता बेबसी-की ही निशानियां है। 'इन्द्रियजय' राज्यका मूल कारण है। इसकी सचाईको साधारण लोग नहीं समझते। जो अपने पिण्डमें 'स्वराज्य=स्वशासन नहीं चला सकता, वह ब्रह्माण्डमें 'स्वराज्य' की स्थापना कैसे कर सकता है?

यदि कभी आर्यावर्तकी स्वतन्त्रताका नाम आ जाता है, तो हमारे मुसलमानोंसे डरनेवाले कुछ हिन्दू भाई हिन्दू मुस्लिम संगठनकी दुहाई देते हुए यहांतक पहुचनेमें भी नहीं रुकते कि भारतवर्षकी गुलामीका प्रारम्भ ब्रिटिश जातके यहां आनेके बादसे हुआ है। उनकी दृष्टिमें मुसलमानी शासनमें भारत स्वतन्त्र था। उस समय भारतीय सभ्यतामें मिलावट, भाषारूप परिवर्तन, वेशभूषा परिवर्तन, हिन्दुओंके वैयक्तिक व सामाजिक अधि-कारोंका अपहरण हुआ। इसलिये मै तो उसे भी पराधीनता ही समझता हूँ। उस समय 'भारतकी पराधीनता' का अभिप्राय केवल मात्र हिन्दुओंकी पराधीनता थी; अब 'हिन्दु मुसलमान' दोनोंकी। हिन्दुओंपर क्या क्या बीती, उसकी कहानी स्याही नहीं लिख सकती। इसलिये 'गुलामी' के ठीक ठीक अर्थको समझनेकी हमें आवश्यकता है, कई हतभाग्य, अकलके मारे इससे भी अधिक भयानक भ्रान्तिभंवरमें गोते लगा रहे हैं। कहते हैं, व्यवस्थाके बिना तो कोई संघ रह नहीं सकता। व्यवस्थाके लिये शासकका होना आवश्यक है। वह शासक कोई भी क्यों न हो। विदेशी हो या स्वदेशी, हमें तो टैक्स देना ही पडेगा, पुलिसकी घुडकियां खानीही पडेंगी"......परमेश्वर ही इन भक्तों, वेदान्तियोंसे बचाये। वे ऋषि दयानदके इस सका-

तब वाक्योंको भूल जाते हैं-'कोई कितना भी क्यों न करे, स्वदेशी राज्य सर्वोत्तम होता है। विदेशियोंका शासन वांछनीय नहीं।'

इस भ्रमसे भी पाठकोंको निकाल देना चाहता हूं कि विदेशी शासनके उठ जाने मात्रसे ही पराधीनता भाग जाती है। जबतक देशमें वर्गोंका झगडा रहता है, एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है, तबतक स्वतंत्रता नहीं आती। स्वाधीनता वहीं मानी जाती है, जहां सबको अपने शारीरिक मानसिक पोषण का पूरा अवकाश मिले।

ये तीन दुःखके रूप हैं। इनके अत्यन्ताभावका नाम अपवर्ग, मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष है। मोक्ष दुःखोंसे छूटनेका नाम है। वे दुःख चाहे किसी भी प्रकारके क्यों न हों! यही सुखप्राप्ति है। इस संसारमें जीवित दशामें जब हम सुखको प्राप्त करते हैं, तो उसे 'अभ्युदय' कहते हैं; जब अभ्युदय प्राप्त कर परलोकका अपना रास्ता सुधारते हैं, तो निःश्रेयस् कहा जाता है।

६. मंत्रार्थ

अब हमें यह भी सोच लेना चाहिये कि सुखी होनेका क्या चिह्न है? हम किस प्रकार जानें कि अमुक व्यक्ति सुखी है? अर्थात् वह दशा कब आती है जब कि प्राणी 'भूख, बेकारी व गुलामी' के त्रिशूलकी मारसे बच जाता है?

यहां पुनः हमें इस बातको मस्तिष्कसे ओझल नहीं होने देना चाहिये कि 'भूख, बेकारी, गुलामी' ये तीन ही अन्य प्राणियोंमें भी लागू होते हैं। प्रसंगसे बाहिर होनेके कारण उसका विचार यहां नहीं किया है। इसीका रहस्य इस गायत्री-मन्त्र में बताया गया है। आइये, इसके अर्थपर विचार करें। अत्युत्तम होगा कि इसके सब अर्थोंको दिमागसे निकाल पाठक मेरे साथ चलें।

भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजुर्वेद)

इसमें 'भूर्भुवः स्वः' ही सब कुछ है, यही 'मास्टर की' है। इसके दो भाग हैं। 'भूर्भुवः' + 'स्वः।' स्व शब्दका अर्थ सुख होता है, 'स्व' एक विशेष वैदिक परिभाषा है, जिस का अभिप्राय 'आनन्द' व 'आत्मविभोर होना' है। इसीसे 'स्वर्ग' शब्द बना है, जिसका अर्थ सुखको जानेका मार्ग व स्थिति है। 'स्वर्लोक' का अर्थ है-" वह स्थान व दशा जहां पूर्ण आनन्दकी उपलब्धि हो।" 'स्व' का प्रचलित अर्थ 'अपमापन,' 'निज' है। तत्त्वज्ञानियोंने बताया है कि 'सर्वमात्मवशं सुखं, सर्वं परवशं दुःखम्।' किसी वस्तुपर अपनापन सुख देता है, दूसरेका अधिकार दुःख देता है। अर्थात् स्वभाव सुख है, परवशता दुःख है। इसीसे 'स्वतंत्रता,' 'स्वराज्य,' 'स्वशासन' शब्द बने हैं। मनुष्य इनकी कामना इसीके लिये करता है, क्योंकि उसे 'सुखप्राप्ति' होती है।

'भू' शब्दका अर्थ 'होना' है; क्योंकि यह 'भू सत्तायाम्' धातुसे बना है। इसका अर्थ भूमि, पृथिवी आदि भी हैं। इसमें सब भौतिक तत्त्व अन्तर्निहित हैं। जो भी सत्तावान् पदार्थ हैं उन्हें 'भू' वर्गमें रखा जा सकता है। परन्तु ऐसा होता नहीं, यह एक विशेष पारिभाषिक संज्ञा बन गई है जो कि प्रत्यक्ष दृश्यमान भौतिक प्रपंचके लियेही प्रयुक्त होती है। 'भू लोक' का अर्थ पृथिवी तथा तत्सम्बन्धी पार्थिव पदार्थ हैं। हम इसे यों भी कह सकते हैं कि 'पंचभूतात्मक' सत्तावान् पदार्थ-समुदाय 'भूवर्ग' में आ जाता है।

'भुवः' शब्द भुव् धातुसे बना है, जिसका अर्थ 'अवकल्पन' है। अवकल्पनं चिन्तनम्। चिन्तन शब्दका अर्थ यदि व्यापक तौरपर लें तो तत्वबोध, विद्या, नागरिकता, संस्कृति, सभ्यतादि हैं। एक व्यक्तिका 'चिन्तन' उसका ज्ञान सोची समझी बातही हो सकता है। एक जातिका चिन्तन उसका साहित्य, उसकी भाषा धर्मादि ही हो सकते हैं।

अब आइये इन तीन शब्दोंकी परस्पर जरा संगति लगावें। यदि किसीने 'स्व' को प्राप्त करना हो, तो उसे क्या करना चाहिये? 'भूः+भुवः' की प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। सुखके मूल ये ही दो हैं। एक व्यक्ति सुखी है, इसका विश्लेषण यदि करें तो यह रहस्य का पता चल जायेगा। एक पहलवान् भौतिक तौरपर शारीरिक दृष्टिसे पर्याप्त स्वस्थ है, परन्तु मानसिक या बौद्धिक विकासमें बहुत पीछे है। वह भी धोखा खा जाता है, उसकी सदा दुर्गति बनती है। एक व्यक्ति बडा भारी पण्डित है, पर जीवन भर वैद्यजीकी दुकानके चक्कर लगाता है; वह भी सबसे पिटता है। स्पष्ट है कि पहलवान् और पण्डित दोनों ही दुःखी हैं। सच्चे अर्थोंमें वही व्यक्ति सुखी हो सकता है जो शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकारसे स्वस्थ है। इसीको मामूली भाषामें कहेंगे जिसकी शारीरिक शक्ति+बौद्धिक विकास अथवा जिसमानी व रुहानी ताकत पूरी है; वही पूर्ण

रूपसे सुखी है; क्योंकि उसे कोई दबा नहीं सकता; उसे किसी का मुंहताज नहीं होना पडता। वह पूरा ' स्वावलम्बी ' रहता है।

अब इसीको जरा वैदिक शब्दोंका जामा पहिना दें तो गायत्री का भाव अर्थात् ' प्राणरक्षण ' का उपाय हमारी समझमें सरलतासे आ जायेगा। जिसका भूः–शरीर तथा भुवः–चिन्तन बुद्धि ठीक है वही ' स्व ' का अधिकारी है, उसीकी जीवनरक्षा होती है। जिसका वदन स्वस्थ सुन्दर है और अकल ठिकानेपर है,वह कभी भी मुसीबतमें नहीं फँसता। उसको कोई धोखा नहीं दे सकता। उसपर कोई अत्याचार करनेकी हिम्मत नहीं करता, सब उससे भय खाते हैं। वही सच्चे अर्थोंमें श्रीमान् कहता है।

हमने ऊपर ' भूर्भुवः + स्वः ' के फार्मूलेको एक व्यक्तिपर लगा कर देखा। अब इसे समष्टि (जाति) पर लागू करते हैं।

एक जाति स्व+भाव सुखभाव आत्मभाव, स्वतन्त्रताको तब प्राप्त करती है जब कि उसके पास 'भू' उसकी भूमि अर्थात् राजनैतिक अधिकार हों और साथ ही साथ 'भुवः' उसकी अपनी सभ्यता भाषा धर्मादि हों। एक जाति राजनैतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र हो सकती है परन्तु यदि उसकी अपनी सभ्यता, भाषा, संस्कृति नहीं तो वह भी आधी गुलामही है। एक जाति यदि सभ्यता का ऊँचा विकास किये हुए है, पर राजनैतिक अधिकार उसके पास अपने नहीं तो वह भी पराधीन ही है। जैसे अभागा भारतदेश जिसके संचालनकी बागडोर ७००० मील दूर खूटे में बन्धी है।

यदि इसको अधिक समझने योग्य भाषामें कहूं तो यों कह सकता हूँ। ' स्वभाग्यनिर्णय ' के अधिकारका अभिप्राय यही है कि व्यक्ति या जातिके पास 'भूः + भुवः' दोनों हों। भाग्य शब्द भगसे बना है, जिसका अभिप्राय समस्त ऐश्वर्य कीर्ति आदिसे है। वह तभी प्राप्त होता है जब कि वह 'भूः+भुवः'का सम्पादन करते हैं। एक जाति जब अपनी भूमिकी पैदायशपर अपना अधिकार रखती है तो वहां भूख बेकारी दुर्भिक्षादिका प्रादुर्भाव होताही नहीं। इस 'आवागमनके अत्युत्तम पुष्कल साधनोंसे पूरित' युगमें अकालमें लाखोंका अन्तिम सांस ले लेना 'भूः' के स्वाधीन न होनेका ही ज्वलन्त उदाहरण है। रेडियो, फोन, मुद्रणालयके इस कालमें अपनी भाषामें बोल न सकना, अपने भावोंमें सोच न सकना, अपनी बात सुन न सकना 'भुवः' की पराधीनताका मर्मस्पर्शी चित्र है। इसी का दूसरा नाम ' स्वभाग्यनिर्णय ' का अधिकार न होना है।

७. विश्वशान्तिका चार्टर

चाहे किसीने भी सुख 'स्व' क्यों न प्राप्त करना हो, भूर्भुवः दोनोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। आज दुनियामें भूख, बेकारी और गुलामीसे त्राहि त्राहि मची है। अमनचैनकी प्राप्तिके लिये लोग चिल्ला रहे हैं। उसका अचूक सीधासादा इलाज यह गायत्रामन्त्र है। यदि साम्राज्यवादियोंको यह समझमें आ जावे कि सबको स्व चाहिये और इसके लिये सभी को ' भूर्भुवः ' का देना जरूरी है तो मां वसुंधराका हृदय विंधना बन्द हो जावे, दुनियाँमें शान्ति छा जावे, दंगा फसाद सदा के लिये लुप्त हो जावें।

विश्वशान्तिकी यही अमोघ औषध है। एक 'पीडित जाति' को उसका 'भूः'=राजनैतिक सत्ता दे दीजिये, उसको हड़पनेका ख्याल छोड दीजिये। उस परसे व्यापारिक प्रभुत्व उठा लीजिये, उसे आधा सुख आपही आप मिल जावेगा, उसका भूखा मरना बन्द हो जावेगा। अमृत भरित गोदमें बच्चेका बिलखते तडपते मर जाना सिवा इसके क्या हो सकता है कि उसे ' स्तन ' चूसनेका अधिकार नहीं ? उसका पान कोई और करता है। उसकी भाषा, सभ्यता व धर्मको पनपने दो, आधा सुख और मिल जावेगा उसकी नैतिक मृत्यु कभी नहीं हो सकेगी। दुनियाँ में हर जातिको अपने देशमें 'खाने पीने पहिरने' तथा ' बोलने लिखने सुनने सोचने ' का अधिकार होना चाहिये।

इसीका नाम ' स्व+तंत्रता ' या ' स्वभाग्यनिर्णय ' के अधिकारका होना है। विश्वमें शान्तिस्थापना करनेके लिये बीसियों प्रयत्न किये जा चुके हैं, पचासों किये जावेंगे। क्योंकि गत प्रयत्नोंमें इस मूलभूत सचाईकी सर्वथा उपेक्षा की जाती रही है, इसीलिये शान्तिस्थापनाके ये सब प्रयत्न भयानक युद्धोंकोही सृष्टि देते रहे हैं। कुछ बडी शक्तियां चोरोंकी तरह लूट मारके मालकी तरह जगत्को बांट रही हैं और उनके उपभोगकी सोच रही हैं। यदि आगे भी यही बेढंगी रफ्तार रही तो ' विश्वशान्ति ' आकाश-कुसुमसे अधिक कुछ न होगी। ' वन्ध्यापुत्र 'का विवाह शायद ' नपुंसक-पुत्री ' से हो जानेपर शान्ति और व्यवस्था न हो सकेंगे ! न हो सकेंगे !!

इसीका नुस्खा या गुर या मूलमंत्र यह गायत्री है। विश्वमें पूर्ण शान्तिका इससे सरल व पूर्ण युक्तियुक्त उपाय और कुछ नहीं। यह सत्य सनातन है, सार्वभौमिक नियम है। यह सूत्र रूपमें कहा 'महान् सत्य' है। तीन शब्दोंमें 'शाश्वत सुख' प्राप्ति का निराला उपाय कह दिया। यही आर्योंकी विजयका असली मूलमंत्र है।

८. उपसंहार, अन्तिम निवेदन

आज आर्यसमाजके सामने जहाँ कई अन्य समस्यायें है वहां एक यह समस्या भी है कि वह विश्वके सामने एक ऐसी कौनसी स्कीम रक्खे जिससे उसके समस्त दुःखोंकी समाप्ति हो जावे? विश्वमें न जाने कितनी लहरें उठीं, सबने अपने अपने तौरपर इसका हल बताया। महर्षिने भी इसके लिये ही विषपान किया। इसीमें अपनी मुक्ति समझी कि 'विश्वकल्याण' हो। आज क्या बात है कि 'दुनियां' के बडे नेताओंने 'समाज'को पूछातक भी नहीं। किसीका भी ध्यान इस तरफ न गया। ऋषिने इसके लिये क्या कहा है? आर्याभिविनयमें ईश्वरकी प्रार्थना हो रही है। बुद्धिकी प्रार्थनाके बादही हे प्रभो! हमें '**चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापनाकी शक्ति दो**' ऐसा छे बार लिखा है। इसका अभिप्राय क्या है? ऐसे कौनसे अवरोधक तत्व हैं जो समाजको इस दिशामें कुछ कार्य करनेसे रोकते हैं? हमारे सामने यह बडी समस्या है। गायत्रीका जाप करनेवाले समाजी भाईसे कहूँगा कि एक जाति का दूसरी जातिके नीचे रहना भी बन्धन है और जबतक ये कटते नहीं तबतक मुक्ति और मोक्षका स्वप्न लेना सातवें आसमान पर अपने लिये सीट रिजर्व करानेका जैसा भद्दा ख्याल है।

यदि समाजने प्रगतिकी दिशामें कदम उठाना है तो वर्तमान कार्यक्रमको पूराका पूरा बदलना पडेगा। उद्देश्य तो निश्चित है, मेरा अभिप्राय उसे छोडनेका नहीं। मैं तो देखता हूं कि समाज उससे दूर होता जा रहा है। इसी लिये कहता हूं कि इसको नई दिशामें अभय हो चलना पडेगा। नित्य 'अभयं मित्रात् अभयममित्रात्' की प्रार्थना करनेवाले आर्य-समाजीका पराधीनताकी देशमें रहना, या इसे तोडनेका प्रयत्न न करना परमेश्वरसे मजाक करना प्रतीत होता है।

मेरा दिमाग गत कई वर्षोंसे इस दिशामें सोच रहा है। मैं भी बडे ध्यानपूर्वक दुनियांके उतार चढावको देख रहा हूं। राजनीतिके बदलते रंगोंको साफ निगाहसे देख रहा हूं। दुःखी तभी होता हूं जब कि 'अपनी आवाज'को कहीं नहीं पाता। अपने समाजको सर्वथा उपेक्षित तिरस्कृत पाता हूं। आर्यसमाजोंमें जहां भी जाता हूँ एक मुर्दापनकी झलक पाता हूँ। साप्ताहिक सत्सङ्गसे बढकर दैनिक सत्संग प्रारम्भ हो गये हैं। बडे बडे जल्से कर लिये गये हैं और चिल्ला चिल्ला कर घोषणा कर दी गई है कि 'आर्यसमजमें निराशाका वातावरण देखनेवाले बेवकूफ हैं'। एक मान्य संन्यासी तो यह कह बैठे कि 'अभी तो समाजने कार्य प्रारम्भ किया है।' शायद वे इस बातको भूल गये कि समाजका कार्य तो उस दिन प्रारम्भ होना है जिस दिन 'चक्रवर्ती साम्राज्य' की स्थापनाके लिये निर्भय होकर समाज चलेगी। उसी दिन 'गायत्री' का जाप सफल होगा।

अमृत और मृत्यु

(लेखक- श्री. पं. वाजिनीदेवीजी, ' विद्याविभूषिता ' धर्मपत्नी. पं. ऋभुदेव शर्मा)

वेदमें अमृत और मृत्यु ये दोनों शब्द अनेक स्थानोंपर आते हैं।

यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः (यजु. २५।१३)
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । (यजु. ४०।१४)
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । (यजु. ३१।१५)

इत्यादि मन्त्रोंमें मृत्युसे छूटने और अमरत्व प्राप्त करने का वर्णन आता है। प्रश्न होता है कि यह अमृत क्या वस्तु है? अमृत कोई पेय पदार्थ है तो मृत्यु क्या है? यदि अमृत का मृत्युके साथ सम्बन्ध है तो अमृत कोई पेय पदार्थ नहीं हो सकता। यद्यपि वेदमें अमृत शब्द भोग्य पदार्थोंके समान वर्णित है तथापि इसका मुख्य सम्बन्ध मृत्युके साथही है। यदि मृत्युका अर्थ मरना हो तो अवश्य ही अमृतका अर्थ अमरत्व होगा। मनुष्य मृत्युको नहीं चाहता, उसे तो अमरत्वही चाहिए। फिर यह अमरत्व क्या वस्तु है? क्या सदेह किसी लोकविशेषमें चले जाना, जहाँ इस देहको जरा और मृत्यु न ग्रसे इसका नाम अमरत्व है? अथवा इस देहका किसी समय भी विनिपात न हो इसका नाम अमरत्व है? अथवा किसी अमर वस्तुका अपने स्वरूप प्राप्त करना यह अमरत्व है? सदेह किसी लोक विशेषमें जाना यह प्रत्यक्षके विरुद्ध है। इस देहका सदा इसी रूपमें रहना भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है। इस स्थूल शरीरका नाश अवश्यंभावी है। इस शरीरमें परिवर्तन तो दृष्टिगोचर हो ही रहा है। इसका पतनभी सम्मुख है। तब यह शरीर सदा इसी रूपमें रहेगा, इसे कौन मानेगा? इसलिए इस देहका अमर होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। अब एक तीसरी अवस्था ऐसी है जिसमें अमरत्व सिद्ध हो सकता है। वह है आत्मवस्तु का शाश्वतपन, आत्माके अमृत होनेपर इसका अमृतत्व स्वतःसिद्ध है।

जगत्के तीन अनादि कारण कहे जाते हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति। ये तीन शब्द अध्यात्म शास्त्रमें बहुत प्रसिद्ध हैं। भिन्न भिन्न विद्वान् भिन्न प्रकारसे इनकी व्याख्या करते हैं। कोई ईश्वर और जीवको एक मानकर प्रकृतिका परमेश्वरकी शक्ति मानता है। कोई इन तीनोंको भिन्न द्रव्य। परन्तु आत्माके नित्यत्वमें किसीका विवाद नहीं। हाँ, स्वरूपमें विवाद पाया जाता है।

आत्माका शरीरके साथ संयोग जन्म और वियोगका नाम मृत्यु है। जीव शरीरके साथ संयुक्त रहनेमें सुख मानता और शरीरसे वियुक्त होनेमें कष्ट अनुभव करता है। बस, इस कष्ट को हटानाही इसका ध्येय रहता है। जीवनमें इच्छाओंका विघात स्वाभाविक है। मनुष्यकी सारी कामनायें पूर्ण नहीं हुआ करतीं। उनमें यह दुःख अनुभव करता है और कामनाओंके पूर्ण होनेपर आनन्द प्राप्त करता है। दुःखको हटाना और सुखको प्राप्त करनाभी इस आत्माका ध्येय है। इस अवस्थामें अमृतका अर्थ सुख और मृत्युका अर्थ दुःख होगा। मृत्युसे छूटकर अमृतको प्राप्त करनेका अर्थ दुःखसे छूटकर सुखको प्राप्त करना है। शरीरके साथ हमें जो सुख प्राप्त होता है, उसमें दुःखभी रहताही है। इसलिये शरीरसे पृथक् होकर सुख अनुभव करना यही विशेष सुख माना गया है और इस अवस्थामें अमरके साथ मर्त्यका संयोग नहीं होता, इसलिये दुःखका सम्पर्कभी आत्माके साथ नहीं रहता। मोक्षके सम्बन्धमें अनेक लोगोंके अनेक विचार हैं। कोई शरीरके मरणोपरान्त इस शरीरके अन्तको ही मोक्ष मानता है। कुछ लोग किसी लोक-विशेषमें अनन्त काल तक रहनेको मोक्ष मानते हैं। परन्तु दर्शन दुःख से छूट जानेका नाम मोक्ष मानते हैं। वेद, अपने स्वरूपको जान लेनेमें मोक्ष मानता है। जब आत्मा जान लेता है कि 'मैं नित्य सत्ता हूं, मुझे किसी कालमें मृत्यु नहीं' तब वह मृत्युके भयसे छूट जाता है। बस, मृत्युके भयसे छूट जानाही अमृतत्व है। 'तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योः' इस मंत्र-भागमें यही बात उक्त है। इति।

ध्वज-वन्दन

(लेखक- पं. ऋभुदेवशर्मा, 'साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण')

राष्ट्र-जागृतिके इस युगमें सर्वत्र उत्साह दिखाई दे रहा है। अपने अपने युगके सभी कालोंमें ऐसा होता रहा है-

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(गीता ३।५)

क्षणभर भी चुप-चाप बैठना यह मनुष्य-स्वभावके विरुद्ध है। इसलिये प्रत्येक युगमें इस स्वभावने युवकों, बाल और वृद्धोंको किसी न किसी कर्ममें प्रवृत्त रखा। आज भारतके युवक कुछ न कुछ करना चाहते हैं और कर रहे हैं। वे करते हैं और किसी न किसीसे प्रेरणा पाकर। वह प्रेरणा भी अधूरी होती है। वे, जब तक ठोकर नहीं लगती, किसीकी सुननेको उद्यत नहीं होते, परन्तु जब गाडी रुकने लगती है, तब पीछे ताकने लगते हैं। पश्चिमीय सभ्यताके प्रवाहमें हमारे देशके युवक अत्यधिक बह गये हैं उन्हें इंगलैंड, रशिया, जर्मनी, अमेरिकाकी पद्धति श्रेष्ठ है परन्तु वेद, रामायण या महाभारतमें क्या लिखा है, कुछ भी पता नहीं। न वे उधर देखनेकी चेष्टा करते हैं। इधर हमारा विद्वत्समाज भी निरुत्साह पडा है। व्यावहारिक अन्वेषणकी ओर मानो ध्यानही नहीं। यही कारण है कि आज नये-नये वाद और नई-नई प्रथाएं चल पडी हैं जो समाजमें कलहका कारण बन रही हैं और आगे सम्भवतः उग्र रूप धारण करेंगीं।

वेदमें मातृभूमिके प्रति अनुपम उद्गार पाये जाते हैं। 'हम प्रत्येक युद्ध और सभामें, हे मातृभूमे! तेरी बडाई करें'। (अ. १२।१-५६) ' हे मातृभूमे! ये मनुष्य तुझसे उत्पन्न होकर तेरे ही ऊपर विचरते हैं, तू ही द्विपात् और चतुष्पात्का धारण करती है, ये पांच प्रकारके मानव तेरे ही हैं, जिनको सूर्य उदय होता हुआ अपने किरणोंसे, अमर ज्योति बांटता है।' (अथ. १२।१।१५)

आज कोई दल या संघ इन पुरातन गीतोंको अपनानेके लिये उद्यत नहीं। हाँ, अपने अपने नये गीतोंका गुण गाते और दूसरोंके गीतोंकी निन्दा अवश्य करते हैं। जबतक ये लोग इस नवीनतामें पडे रहेंगे तबतक उनका सारा कार्य अयोग्य और अवैदिक होगा, चाहे वे किसी दल या संघके हों।

ध्वज कोई पूजाका पदार्थ नहीं, किन्तु पश्चिमीय राष्ट्रोंकी देखा देखी इस देशमें भी ध्वज-वन्दनकी प्रथा चल पडी है। पौराणिक कालमें ध्वज इन्द्रादि देवोंके नामसे स्थापित होता था और उसकी पताकाके रंग भी भिन्न भिन्न होते थे, जैसा कि वासिष्ठी धनुर्वेदसंहितामें लिखा है—

अस्या वस्त्राणि पीतानि ध्वजा पीता च तद्वती।
युद्धयूपस्तथा पीतश्चतुरस्रांकसंयुतः ॥६१॥
श्वेत-रक्त-हरित्कृष्णा चान्या सेना हि त्वादिवत्।
कर्तव्या पार्थिवैर्नित्यं जयलाभसुखेच्छुभिः ॥६२॥

सेनाके गण-वेष, ध्वज और यूपका रंग पीला, श्वेत (सफेद), लाल, हरा और काला होना चाहिये। सेनाके पांच प्रकार और उनके क्रमसे ये पांच रंग हैं। इनमें आर्यलोग श्वेतरंगकी प्रतिष्ठा करते रहे हैं यह रामायणादिके लेखसे 'पाण्डुरैरुपशोभितम्' (वा. रा. अ. १७।१) " चामरव्यजने श्वेते, ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् " (वा. रा. अ. ३।१०), सम्यक् प्रतीत होता है। ध्वज यह सेनाका चिह्न है और सेनामें प्रत्येक सेनाके परिचयार्थ अनेक रंगका हो सकता है। उसको पूज्य या इष्ट देव मानना और उसके गिरने-उठनेसेही जय-पराजय मानना बहुत बडी भूल है। सेनाके जय या पराजय जतानेके लिये उसका प्रयोग किया जाता है। वेदमें, जय-प्राप्तिकी आहुतियाँ दी जाती हैं, ऐसे मंत्रके मन्त्र आते हैं। आजकल उनका परित्याग कर ध्वज-वन्दनमें अग्रसर होना दुःखकी बात है। यह कार्य कोई भी करे, जड-पूजाही कहलायेगा। जैसे हम वेदके विरुद्ध ध्वज-वन्दनमें लगे हैं वैसे ही हमारे घोष भी अवैदिक है। देखिये, रामायणकालमें सेनायें कैसा जय-घोष करती थीं—

(१) **जयत्यतिबलो रामो** लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा **जयति सुग्रीवो** राघवेणाभिपालितः॥
(वा. रा. यु. ४२।२०)

(२) **रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः।**
इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समर्पितः॥ (वा. रा. यु. ४।३०)

(३) राक्षसोऽस्मीति हरयो हरिश्चासीति राक्षसाः॥३॥

(४) जहि दारय चैहीति कथं विद्रवसीति च ४ (वा.रा. यु. ४४)

(ये सारे प्रमाण मद्रासके २४००० श्लोकवाले रामायणसे लिये गये हैं।)

अर्थात् वानरसेना 'रामका जय हो महाबली लक्ष्मणका जय हो' इत्यादि बोलती थी। सारांश यह कि जयघोष परमेश्वरके नाम का नहीं, धर्म, देश और राष्ट्रके नेताओंके नामका होना चाहिये।

कहीं-कहीं पताकाके रंगका झगडा चल रहा है, तो कहीं ध्वज-वन्दन मूर्तिपूजा है या नहीं, इसका। मेरी समझमें यदि राष्ट्र-निर्माणका वैदिक यज्ञ-पद्धति अपना लें तो ये झगडे शान्त हो जायेंगे। 'गलेमें पडा हुआ ढोल' बजानेकी अपेक्षा वैदिक-पद्धति स्वीकारना अधिक उचित होगा। हमारे दल और संघ वर्तमान बडी राष्ट्र-शक्तियोंके अनुकरण है और समय आनेपर येही बडी शक्ति बन सकते हैं। अतः इनको अभी वैदिक रूपमें परिवर्तित करना अधिक उचित होगा।

वैदिक स्त्रियां

(लेखक- पं० ऋभुदेवशर्मा)

वेदमें स्त्रियोंके विषयमें क्या लिखा है, यह लम्बा विषय है। कहीं प्रत्यक्ष और कहीं परोक्ष, इन स्त्रियोंके अनेक चरित्र वेदमें पाये जाते हैं।

स्त्रियाँ माता, बहन और पुत्री रूपमें हमारे घरोंमें विद्यमान है। परन्तु स्त्रीका एक अन्यरूप भी है और वह है पत्नीका। प्रायः अन्याय और अधिकारके झगडे इन पत्नियोंके साथही होते हैं। अन्याय तो माता, बहिन और पुत्रीपर भी होते हैं पर अधिकारका झगडा कम होता है। माता पुत्रके अन्यायको सह लेती है। बहन और पुत्री सयानी होकर दूसरेके घर चली जाती हैं, पत्नी दूसरे घरसे आती है, इसलिये बहन और पुत्रीके अधिकार के झगडे प्रायः होते ही नहीं, या कम होते हैं। पत्नीका सारा जीवन पतिके घरमें बीतना है अतः अधिकारोंके छोटे-मोटे झगडे चलतेही रहते है। वेदका वाक्य बताता है—

'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः,
(अथर्व. ३।३०।२)

(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे।

(२) पुत्र माताके अनुकूल मनवाला रहे।

पिता पुत्रको बनाता है। यदि वह पिताकी बात न माने तो कैसे सुधर सकता है ? मनुष्य अपने मनके अनुकूल चलना चाहता है। छोटा बच्चा भी दूसरेकी बात नहीं मानता तो बालक पिताकी बात क्या मानेगा ? उच्छृंखल-वृत्ति स्वाभाविक है। वेद कहता है उससे काम नहीं चलेगा। उसे बाँधना चाहिये और पिताकी अधीनता स्वीकार करनी चाहिये। जो हितकी बात हो और अपने समझमें आ जाय उसको मानना और उसपर आचरण करना चाहिये। न समझमें आये और पिताकी सत्यवादिता पर विश्वास हो तो उसे भी करना चाहिये। हाँ, दुष्ट पिता और उसके दुष्ट दूषित आदेश जो सर्वजन-प्रत्यक्ष हैं उसे न माननेकी बात पृथक् विषय है, वह परिवारके संगठनका दूसरा रूप है। परन्तु सामान्य आदर्श यही है कि पुत्र पिताके आदेशपर चले।

पुत्र माताका भी आदर करे, उसका तिरस्कार न करे। पिता रुष्ट होकर मारेंगे इसलिये पुत्र पितासे डरते हैं, परन्तु माता मार नहीं सकती, अतः पुत्र उसे कुवाक्य कहते और कभी कभी मारते तथा तिरस्कारभी करते हैं। वेदका यह आदर्श नहीं है। पुत्र माताका आदर करे और उसे कष्ट न होने दे। आजकलके विचित्र वेदान्तमें पुरुष पवित्र और स्त्रियां अपवित्र मानी गई हैं। इसलिये वे समाजमें अल्प मूल्य रखती हैं। उन्हें सन्ध्या हवनादि उत्तम कर्मसे भी रोका जाता है। इस भावनाके दूर होनेपर ही स्त्रियोंकी स्थिति सुधर सकती है। पुत्र भी माता आदिको पुरुषसे हीन समझता है, यह नवीन वेदान्तवादकी ही कृपा है! परन्तु वेद स्त्रियोंको ऐसा न मानकर माताके साथ सम्मनाः बननेका उपदेश करता है। हन्त! पुरुष जिस माताके अङ्गसे बना और जिसके दूधसे पला उसेही अशुद्ध और अपवित्र समझता है! उसके मनकी यह गन्दगी कब निकलेगी? सचमुच पुरुषोंके मनको पलटनेकी आवश्यकता है। पुत्र माताके साथ समान या उत्तम मन तभी रख सकेगा, जब उसके मनसे स्त्रियोंकी अपवित्रताके भाव निकल जायं—

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।
(अथ. ३।३०।२)

पत्नी (जाया) पतिके लिये मीठी वाणी कहे। सचमुच यह आदेश नहीं कर्तव्य-निर्देश है। आदेशके लिये दण्डकी आवश्यकता है और कर्तव्यके लिये शिक्षा की। जैसे उत्तम पत्नियें पति को मीठा शब्द कहती हैं, वैसे दूसरीभी कहा करें। यह प्रेरणामात्र है, जो प्रेम-वश हितकी दृष्टिसे कहा जाता है।

आज पत्नियें शिक्षिता नहीं बनाई जा रहीं, उन्हें केवल वस्त्राभूषणसे शरीर सजानेकी शिक्षा मिलती है, वे भला सामाजिक कर्तव्यको क्या जाने? यही कारण है कि वे पतिके अनुकूल नहीं रहतीं और पतिको दण्डका आश्रय लेना पडता है।

पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्।
(अथ. १४।१।४२)

'पतिके अनुकूल कर्मवाली होकर तू अमृत (सुख) के लिये तय्यार हो।'

पुत्र पिताका अनुव्रत बने और पत्नी पतिकी। स्त्री पतिकी अनुव्रता है, परन्तु दासी अथवा हीन नहीं वह अपवित्रा भी नहीं है। अनुव्रत होना सामाजिक धर्म है। जो बुद्धिमान् और बलवान् हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, सब लोग उसका अनुव्रत बनते हैं। ऐसे अनेक घर हैं जहाँ पत्नीकी अनुमतिसेही कार्य होता है। मनुष्य वास्तवमें स्वार्थी है। वह जिससे काम निकलता देखता है उसे बडा मान लेता है। स्त्री हो या पुरुष, जो भी विशिष्ट गुण रखता हो, वह पूजा जाता है।

तब अनुव्रत होना दासता नहीं कही जा सकती। पत्नी पति के अनुकूल चले, वेद यही शिक्षा देता है। पुरुष और स्त्रियोंको पृथक् करना या उन्हें अधिकार बाँटना, सरल काम नहीं है। अधिकार किसीके हाथमें हो, वह उसका दुरुपयोग करेगा।

वेदमें नदियोंके संवाद हैं। इन्द्राणी, उर्वशी, रोमशा और वागाम्भृणी आदिके चरित्र और वाक्य पाये जाते हैं। ये केवल कथा कहानी नहीं हैं। इनमें इन स्त्रियोंके कार्य और मनोभाव निहित है। इन्द्रकी इन्द्राणी कहती है—

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ. १०।८६।९)

"(अयम्) यह (शरारुः) हिंसक, शरारती (माम्) मुझे (अ-वीराम् इव) वीर-पति-रहित अथवा अबलाके समान (अभि मन्यते) मानता है (उत) और (अहम्) मैं (वीरिणी) वीरपतिवाली (इन्द्र-पत्नी) इन्द्रकी पत्नी (मरुत्-सखा) मरुतों जैसे मित्रवाली (अस्मि) हूँ। (इन्द्रः) इन्द्र (विश्वस्मात्) सबसे (उत्तरः) बडा है।"

इन्द्रकी पत्नी वीर पतिवाली है। इन्द्रकी वीरताका बखान करके वह शत्रुको भयभीत करती है। उसे मरुतोंके ऊपर भी विश्वास है। इन्द्राणी निर्भय स्त्री प्रतीत हो रही है, वह बुद्धिमती और वाग्मिनी भी है। भय खानेवाली स्त्री इस प्रकार निर्भय नहीं बोल सकती।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
न ह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिः
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ. १०।८६।११)

"(अहम्) मैंने (आसु) इन (नारिषु) स्त्रियोंमें (इन्द्राणीम्) इन्द्राणीको (सु-भगाम्) भाग्यवती (अश्रवम्) सुना है। (अस्याः) इससे बढकर (अपरं चन) दूसरा (नहि) नहीं है। अथवा (अपरं चन) दूसरा गुण यह कि (अस्याः) इसका (पतिः) पति (जरसा) बुढापेसे भी (नहि) नहीं (मरते) मरता। (इन्द्रः) इन्द्र (विश्वस्मात्) सबसे (उत्-तरः) श्रेष्ठ है।"

इन्द्र इन्द्राणीकी प्रशंसा करता है। इंद्राणी भाग्यवाली है, उसे भोजनादिकी कमी नहीं है। इंद्र जैसे पतिको प्राप्त कर वह भाग्यवाली क्यों न हो? इंद्र वीर है, पुनः अमर है। वह बूढा भी नहीं होता। ऐसा अमर और अजर पति स्त्रीके सौभाग्यसे प्राप्त होता है।

स्त्रियां युद्ध करने नहीं जातीं। वे गृहमें रहतीं और प्रजापशु-गृहकी देख-भाल करती हैं। वे आत्म-रक्षा और देश-संकटके समय लड सकती हैं, परन्तु लडना उनका व्यापार नहीं है। यही कारण है कि इंद्राणी अपनी वीरतापर नहीं अपने पतिकी वीरतापर गर्व करती है।

आज देशकी स्त्रियाँ घर-बार छोडकर देश-सेवाकी दिशामें दौडी जा रही हैं। यह कार्य देशके लिये कितना उपयोगी है? मैं इस विवादकी परीक्षामें नहीं जा रहा। प्रत्येक कार्यमें रूढि और मनमानी दोनोंही निषिद्ध हैं। पुराने लोगोंका स्त्रियोंको, विघातकसे वंचित रखना और वर्तमान उन्नत देशोंका स्त्रियोंकी सेना बनाना दोनोंही अन्याय हैं। जो मनुष्य बैलके स्थानपर गर्भिणी गायको हलमें जोते, उसे कौन अच्छा कहेगा?

इस प्रकार वेदका मनन करनेसे स्त्रियोंके स्वभाव और धर्म-कर्मका अच्छा ज्ञान होता है। इन आदर्शोंके पालनसे ही विश्व का कल्याण होगा।

अहिंसा

(लेखक- पं. वसिष्ठजी)

जडवाद और अहिंसा

वैष्णव और जैन सम्प्रदायोंके कुछ मेधावी अनुयायियोंको छोडकर शेष सब मानवोंको अहिंसा एक हास्यास्पद विचार प्रतीत होने लग गया है। वास्तवमें मानव-अन्तस्तल अपने स्वार्थ, कामनाओं व विशृंखल इच्छाओं, व्यसनों द्वारा इतना आविर्भूत हो चुका है कि वह इनकी पूर्तिमें बाधाकी सम्भावना समझतेही क्रोधातुर होकर अहित कामनामें डूब जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें भिन्न भिन्न रुचियें व प्रतिकूल कामनाएं, दूसरोंकी कामनाओंसे द्वेष व उनको पूरा न होने देनेकी उत्कट लालसा, ऐसी अवस्थामें तुच्छसे विरोध व अरुचि पर घोर मानसिक अहित-कामना व कर्ममें घोर हिंसा-हत्याकाण्ड तक उपस्थित कर लेना एक साधारण खिलवाड हो सकती है, यदि नैतिक नियमोंका बन्धन व राजनैतिक दण्डका भय न हो। इस जगत्के मानवोंमें बाह्य रूपसे जो शांति (मारपीट व नरहत्याओंका अभाव) की प्रतीति है वह इन नैतिक बन्धनों व राजदण्डके भयसे है, नहीं तो आजका मानव पशु भेडियासा बना हुआ है। यही कारण है कि धर्म व ईश्वरके माननेवाले आत्मवादी सम्प्रदायोंके अनुयायियोंमें भी अहिंसा एक व्यर्थसा विचार माना जाने लगा है। विश्वासको धारण करनेवाले मन बुद्धि प्राणोंके आवेश व आवेगोंके वशीभूत हो गये हैं। जडवादी उस सीमातक तो अहिंसाको मानता है जिस सीमातक वह उसकी शांतिमें सहायक है।

जडवादीकी शान्तिका अर्थ है- 'जीवनमें उसकी इच्छाओंका पूरा होते रहना।' किन्तु इच्छाओंकी कोई सीमा नहीं, अतः उनकी पूर्ति भी सम्भव नहीं। जडवादी इच्छाओंकी परिभाषा आवश्यकता करता है। किन्तु मानसिक जगत्का यह नियम है कि जितनी इच्छाएं, कामनाएं उठती हैं वे सब आवश्यकता बन जाती हैं। पृथिवीपर अरबों मनुष्य हैं और सबमें इच्छाओंका समुद्र उमडता रहता है। यदि वे असंख्य इच्छाएं समान, सामञ्जस्यपूर्ण, समानान्तर हों तो सम्भव है इनकी पूर्ति विश्वमें हो सके, किन्तु वे सब तो एक दूसरेके प्रतिकूल हैं जो अनायासही टकरा जाती हैं। ऐसी अवस्थामें जडवादीको इन इच्छाओं व आवश्यकताओंकी एक परिमित संख्या बांधनी पडेगी। किन्तु इस संख्याके नियत करनेपर दो प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं—

(१) क्या जडवादी प्रत्येक मानवको इच्छाओं, आवश्यकताओंकी इस परिमित संख्याको प्राप्त करा देगा ?

(२) जिनको यह संख्या प्राप्त करा दी जावेगी वे जीवनभरके लिये संतुष्ट हो जावेंगे ? क्या उनका अहंकार सर्वोच्च बननेके लिये अपने मानव-समाजमें संघर्ष न करेगा ?

इन प्रश्नोंका उत्तर चार्वाकसे काले मार्क्सतक कोई जडवादी नहीं दे सका और अन्तमें वह भी आत्मवादियोंके नाना सम्प्रदायोंकी तरह एक सम्प्रदाय बनाकर ही संतुष्ट हो गया। जडवादीका लक्ष्य है सांप्रत-जीवन, इससे आगे पीछे कुछ नहीं। वह संसारके भूत भविष्यको तो मानता है किन्तु अपने व्यक्तित्वके भूत भविष्यको नहीं मानता। उसका लक्ष्य है केवल यह मानवी जीवन। यदि ऐसा है तो वह शेष मानवोंके लिये क्यों चिन्ता करे ? केवल अपने व्यक्तित्वके लिये और वह भी इस अल्पकालीन अवधितक उसे सुख शांति चाहिये। जडवादी कहता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह विकासक्रमद्वारा पशुसे मानव बना है। किन्तु सामाजिक जीव तो पशु भी है, प्रत्येक जातिका पशु पक्षी अपना समाज रखता है। * मनुष्य यदि पुनः पशुताकी ओर लौट जावे तो जडवादीकी दृष्टिमें मनुष्यकी क्या हानि होगी और क्यों ?

* 'समं अजन्ति जनाः अस्मिन् इति' जिसमें जनाः (उत्पन्न हुए प्राणी), समम् (समान-भावसे) चलें, वही समाज है। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी चर्यामें कम समानता थी, है और रहेगी।

मनुष्य-समाजको छोड दीजिये, केवल मनुष्यके व्यक्तित्व की ही क्या हानि होगी जब कि उसका जीवन लगभग एक शताब्दिसे कमही है ? उसे ईश्वरवादियोंकी तरह पुनर्जन्मके द्वारा दूसरे जीवन तो धारण करने नहीं जहां उसके गत जीवनके अनुभव बृहत्तर सुख, दुःख व उच्चतर चेतनाके द्वारा परात्परताकी ओर ले जावें ? कार्ल मार्क्सको अपने जीवनके इस झमेलेसे क्या लाभ हुआ ? और यदि वह एस्किमों या मैक्सोंका एकाकी जीवन या शिकागोके एक करोडपतिका विलासी जीवन बिता जाते तो उनकी क्या हानि थी ?

जडवादीको तो घोर नारकीय कर्मोंसे भी नहीं डरना चाहियें, क्योंकि उसने कोई भावी जीवन पानाही नहीं है जहां उसके गत जीवनके कुकर्मों, अनर्थोंका दण्ड मिलेगा, या गत जीवनके काम क्रोधादिके अनुभवके आधारपर आगामी जीवनकी बृहत्तर चेतनाद्वारा परात्परताकी ओर प्रगति होगी। उसे इसी जीवनमें मनमानी कर डालनी चाहिये "अब या कभी नहीं"। जडवादी कहता है कि मनुष्य पशुसे ऊंचा उठ गया है। उसमें पशुकी अपेक्षा संतान-स्नेह, दाम्पत्य-प्रेम, पारिवारिक ममता, देशभक्ति आदि अधिक मात्रामें व्यक्त हो गये हैं। हां, इससे क्या ? हमें तो देखना यह है कि इस अभिव्यक्तिके हाथोंकी कठपुतली बनकर नाचना इस मानव पशुका उद्देश्य है या किसी चरम लक्ष्यको ढूंढना ? स्नेह, ममता आदिका अधिक हो जाना क्या पशुताकी वृद्धि नहीं है ? यदि इस अभिव्यक्तिके हाथों नाचनाही इस जड-मानव-यन्त्रका लक्ष्य है तब तो हमें यह भी मानना पडेगा कि हमें (विकसित–मानव–पशुओंको) पडौसीके द्वेष, वैर, विरोध, निर्बलोंपर अत्याचार, विदेशोंका शोषण, परहत्या तथा ऐसेही प्राणोंके आवेशोंको पूरा करनेमें पशु-जीवनकी होड ले लेनी चाहिये। जडवादी अपने इस नन्हेसे जीवनको क्यों जोखिममें डालें ? क्योंकि—

(क) मृत्युके बाद किसी नरक स्वर्गमें उसे दण्ड या पुरस्कार पाना नहीं।

(ख) इस जीवनके कामक्रोधादि दुर्गुण या प्रेम, औदार्य, दया, त्यागादि सद्गुणोंकी रसीली नशीली झांकियोंकी चुस्कियां आगामी जीवनमें लेनी नहीं।

(ग) गत जीवनके कटु मृदु अनुभवको लेकर आगामी जन्ममें बृहत्तर विकसित जीवनकी रचना करके परात्परताकी ओर प्रगति करनी नहीं। अतः "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"। भस्मीभूत शरीरका पुनर्जन्म तो होगा नहीं, चैतन्य जीव नामकी कोई सत्ता प्रधानवादी जडवादीको मान्य नहीं, जो नरक, स्वर्ग या आगामी जीवनमें जावेगी। अतः संसार सुधारके लिये क्रान्तिमें पडकर अपनेको जोखिममें डालना किसी भी दूरदर्शी प्रधानवादी जडवादीको शोभा नहीं देता, यदि वह किसी भी तिकडमसे, चाहे वह कितनी छल, प्रपंच, धूर्ततापूर्ण, निन्दित, निर्दय क्यों न हो, अपनेको-अपने इस नन्हेसे जीवनको—सुखी बना सकता हो या किसी प्रकार ऋण करके अथवा जेब कतरकर घी पी सकता हो!

किन्तु फिर भी प्रधानवादी जडवादी कहता है, "इन सब कामोंका एकमात्र परिणाम यही निकले कि सबका भला हो। हमारी इच्छा यह है कि यह पुराना आशीर्वाद सफल हो + "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।" यह या तो प्रधानवादी जडवादीकी मनलहरी (Hobby) है या किसी परोक्ष, गुह्य, गुप्त, सुप्त चेतनाकी प्रेरणा अथवा अबतक के पृथिवीपर प्रसूत धर्म-सम्प्रदायोंका धार्मिक कुसंस्कार या सुसंस्कार।

यदि यह लहरी (Hobby) है तो लहरी अनेक प्रकारकी हो सकती हैं। धर्म–सम्प्रदायोंकी दृष्टिमें उनका ऊंच, नीच, स्थान हो सकता है किन्तु जडवादीकी दृष्टिमें तो उनका कोई मूल्य होना ही नहीं चाहिये। "पिताकी सेवा करो या मारकर खा जाओ" एक ही बात है। किसीकी लहरी कुछ, किसीकी कुछ, भिन्नरुचिर्लोकः, ही जडवादीका आदर्श हो सकता है यदि किसी राजदण्ड या ऐसेही प्रत्यक्ष विरोधका भय न हो। आत्मवादी उन दुःखोंसे बचना चाहता है जो उसे कामक्रोधादिके कारण प्रस्तुत जीवन व आगामी जीवनमें भोगने पडेंगे। जडवादी भी मानता है कि वह भी आगामी जीवनको न मानता हुआ भी इस जीवनमें काम-क्रोधादिसे मुक्त रहना या होना चाहता है। इसलिये जडवादी-

+ समाजवाद।

को जन्मान्तरके लिये न भी सही तो इस जीवनके लिये तो "**अहिंसा**"-**मानसिक अहिंसा** अनिवार्य है ही। किन्तु "**हिंसा**" रोग मात्र इतना स्थायी और व्यापकसा हो गया है कि आजके मनुष्यके स्वास्थ्य अनुपानमें हिंसा-मानसिक हिंसा-व्याप्त होकर घुलमिल गई है। इसीलिये जडवादी "**अहिंसा**" को ईश्वरवादी सम्प्रदायोंकी एक सनक बताता है तथा ईश्वरवादी भी इस हिंसाको सात्म्य करके अंगीभूत कर चुके हैं। वे इसे रोग माननेको तैयार ही नहीं।

प्रधानवादी जडवादी कहनेको तो जडवादका प्रतिपादन करता है किन्तु मानता है चेतनाको, परम चेतनाकोही, लेकिन वह चेतनवादियोंसे पृथक् रहनेके लिए कुछ भिन्नता प्रकट करना जरूरी समझता है। जगत्‌की भीतरी शक्ति, उसका स्वभावही उसके लिये प्रेरक है ×। जगत्‌के विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका जडवादीके पास कोई साधन नहीं है। ये वचन वेदान्तके इस आशयकी प्रतिध्वनि मात्र हैं- "ब्रह्म अखण्ड, अद्वय, सत्, चिन्मात्र है। उसका कोई वर्णन नहीं हो सकता। अतः वह नेति नेति वाच्य है। जिसे वेदान्ती भागवत् संकल्प कहते हैं उसे जडवादी **परिस्थिति** के नामसे पुकारता है।+ एक ओर तो वह जगत्‌को लक्ष्यहीन, उद्देश्यरहित मानता है ; तो दूसरी ओर महापुरुषोंकी आवश्यकता अनुभव करता हुआ इन सुलझी हुई सत्ताओंको अपने युगका प्रतीक और सम सामयिक शक्तियोंका नाभिबिन्दु ॐ मानता हुआ उन्हें उसी अन्ध, ज्ञानशून्य प्रधानतत्त्वसे प्रसूत मानता है जिनके जगत्‌की कोई लक्ष्य नहीं। जडवादी प्रधानतत्त्वके रहस्यको नहीं जानता जो जड नहीं परम चैतन्य पुरुषोत्तम है। जडवादी महापुरुष उत्पन्न नहीं कर सकता। जिन प्राकृतिक शक्तियोंने महाद्रि और महा सूर्योंकी रचना की है, वह कभी कभी ऐसे महापुरुषोंको भी जन्म दे देती है। जडवादी उन शक्तियोंको थोडाबहुत पहचानता है पर उनका निमन्त्रण उसके हाथमें नहीं है ❀। ये शक्तियें किसने बनाईं और क्यों ? इस सम्बन्धमें जडवादीको कुछ पता नहीं। महापुरुषोंकी रचना इन शक्तियोंने क्यों की ? भागवत् संकल्प तो कहता है "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत... जब धारणासे होनेवाली प्रगतिके प्रति ग्लानि होती है ..."

किन्तु जड प्रधान तत्त्वको इस ज्योतिर्मय व्यवस्थाकी स्थापनासे क्या सरोकार और कैसे ? जड प्रधानके जड जगत्‌में परिस्थितिद्वारा महापुरुषोंकी, परम चेतनायुक्त प्रतिभाशाली धीमान मानवोंकी न जरुरत न सम्भावना ! अधिक गर्मी पडी, जल अधिक मात्रामें बाष्प बनकर ऊपर उठा और कुछ काल बाद ठण्डा होकर बरस गया। परिस्थिति इसीको वर्षा कहती है। मानवरूपी गतिमान् खिलौनोंने विषमतापूर्ण जीवन बनाकर शोषक, शोषित; पूंजीशाही, कंगाल, जैसी विषमताएं रच डालीं। परिस्थितिने शोषितों, निर्धनोंको क्रान्तिके लिये उद्यत कर दिया, फिर महापुरुषकी क्या जरुरत और कैसे सम्भावना ? किसी मूर्खको रिंग लीडर मानकर क्रान्ति कर डालनी चाहिये, परिस्थिति आप सब कर लेगी। अधिक भोजन खा लेनेसे परिस्थिति जब अतिसार करती है तो अतिसार क्रान्तिके लिए किसी महापुरुष तत्त्वकी जरुरत नहीं होती। भूख बन्द हो जाती है और दोष शमन हो जानेपर सब ठीक हो जाता है। यदि प्रतीक ही चाहिये तो शान्तिमय व्यवस्थाके लिये अयोध्यामें श्रीरामकी चरण-पादुका और क्रान्तिके लिए अफगानिस्तानमें चायवाला बच्चा शक्का भी महापुरुषोंके प्रतीक बन सकते हैं। जड तत्त्व महापुरुषोंको क्या बनायेगा। यह चेतना, सनातन चेतनाही है जो इन असंख्य मानव यन्त्रोंको उनकी विकसित उपयोगिताके अनुसार नचा रही है तथा यह उच्च चेतनाही है जो महापुरुष बनकर नेतृत्व कर रही है। इन सबमें जो भ्रान्ति और त्रुटियें हैं, जो हमें प्रतीत होती हैं, उनके दो कारण हैं, एक तो हमारी अपूर्णताके कारण ही, भ्रान्त न होते हुए भी, हमें भ्रान्त प्रतीत होती हैं। दूसरे उनमेंसे अनेकोंमें कुछ न कुछ त्रुटि है जो आगेकी परात्परतामें पूर्णताकी ओर अग्रसर होते होते लुप्त हो जायगी।

× समाजवाद पृ० ७५। + समाजवाद पृ० ८२, ८३, ८४, ८९। समाजवाद पृ० ७५।

* समाजवाद पृ० ८९। ॐ समाजवाद पृ० ७५।

❀ समाजवाद पृ० ९०

जडवादी नित्य आत्माके सम्बन्धमें निश्चित-मति न होकर भी वह उसको मानता है किन्तु वह आई कहांसे इसके विषयमें अभी मौन है +। जगत्की सत्ताओंको शक्तियोंका यन्त्र मानता हुआ भी नित्य चेतनासे इन्कार करता है †। प्रधानवादी जडवादी भी शौर्य, धैर्य, तप, त्याग, अपरिग्रह आदि सद्भावोंको जगाना चाहता है। वह भी यही चाहता है कि लोग निष्काम भावसे काम करें ※। किन्तु वह इन भावोंको सद्भाव क्यों मानता है; प्रधानवादी यह सिद्ध नहीं करता। वह धर्मवादियोंकी इन नाजुक खयालियोंको क्यों पसन्द करता है ?

यदि जडवादी भी ईश्वरवादीकी तरह कामक्रोधादिको एक रोग मानता है जिससे मुक्त होनाही वास्तविक सुख है, आधारकी नैसर्गिक भूमिका है तो किसी भी गंभीर मनुष्यको चाहे वह जडवादी ही क्यों न हो "अहिंसा" का इसलिये उपहास नहीं करना चाहिये कि यह ईश्वरवादियोंकी उपज है। उसे इसकी उपयोगिताको अपनाना चाहिये। इस जड चैतन्यके झमेलेमें पडे बिना भी प्रधानवादी समाजवादीके नूतन सदुद्देश्यका काम चल सकता था, वह द्वैतवादको अपना सकता था, किन्तु प्रचलित पद्धतिमेंसे किसी एकको (चाहे वह सत्यही क्यों न हो) स्वीकार कर लेनेसे द्वैतवादमें बह जानेका भय था। इसलिये उसके अहंकारजनित सम्प्रदायकी पूर्तिके लिये मार्क्सवाद मूर्त न हो सकता। इसलिए वह चार्वाकसे भी अलग और बौद्धधर्मसे भी अपनेको पृथक् रखना चाहता है ताकि कार्ल मार्क्सका नाम मिट न जावे किसी चार्वाक या बौद्धमें घोल बन कर ⊠। किन्तु चेतन शक्तियों, अन्तःकरणों तथा असंख्य व्यक्तिगत चेतनाओंको मानता हुआ भी प्रधानवादी नित्य चेतना, परम चेतनासे इन्कार करता है। शायद इसलिये कि ईश्वरवादी महन्तों, सामन्तोंने भ्रान्तिवश इसी परम चेतनाकी दुहाई देकर हिंसा व्यापार फैलाया है। यदि ऐसा है तब प्रधानवादीकी यह धारणा ऐसी है जैसी उस चंचलचित्त अदूरदर्शीकी हो जो धूर्तों, मूर्खों, चोरों या बदमाशों द्वारा बार बार गांव फूंक दिये जानेपर अग्निके अस्तित्वसेही इन्कार करने लग जावे तथा भागवत चेतना, धर्म, राज और सभ्यताका जिन हिंसा-रोगियोंने अतिशय दुरुपयोग किया उन सत्ताधारी सामन्तों, महन्तोंका बाल बांका न करके चेतना, धर्म, सदाचार, राज व सभ्यता प्रभृति शब्दोंका उन्मूलन करना बुद्धिमत्ता समझता हो। यदि प्रधानवादके अनुयायी भी निकट या सुदूर भविष्यमें पथभ्रष्ट हो गये तो शायद प्रधानवादी प्रधान जड तत्वके अस्तित्वसे इन्कार करके यह दण्ड प्रधान तत्त्वको देगा !

फिर भी अपने गुरु कार्ल मार्क्सके प्रति श्रद्धाञ्जली समर्पित करनेके लिये, ताकि वह उस नूतन दार्शनिक गुरुके प्रति कृतघ्न न कहलावे जिसने साम्यवादका आधुनिक दर्शन दिया, समाजवादके ग्रन्थकारने अपने अद्वैतके ब्रह्म ¶ भगवान्को भी जड तत्व कह डाला है। किन्तु ग्रन्थके आरम्भमेंही उस पुरुषोत्तम परम भागवत चैतन्यको सर्वात्मना समर्पण करते हुए बारम्बार प्रणाम कर गये हैं पुकार पुकार कर—

जगद्भर्ताऽपि यो भिक्षुः भूतवासोऽनिकेतनः।
विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासा, तस्मै कस्मै नमो नमः॥

यह समर्पण व नमस्कार समाजवादीके मजदूरको नहीं है क्योंकि समाजवादीका मजदूर नरभर्ता, नरवासो, नरगोप्ता हो सकता है न कि जगद्भर्ता,, भूतवासो, वा विश्वगोप्ता। कारण, जगत्, भूत व विश्वमें नरही नहीं अनेक प्राणी हैं जिनको मजदूर नहीं बल्कि ब्रह्म भरण करता, निवास देता व ढंकता है। और वह जड प्रधान तत्व ! सो मिट्टी पत्थरकी पूजा करनेवालोंका उपहास करनेवाला समाजवादी कैसे प्रधान जडको "तस्मै कस्मै नमो नमः" कह सकता है ? अतः ग्रन्थकारका प्रधान तत्त्व परम चैतन्यही है।

यह बात तर्कसंगत है कि रचनामें मुख्य और गौणका साथ रहता है। चेतन व जडके माननेवाले द्वैतवादी भी चेतनकोही मुख्य मानते हैं और जडको गौण। प्रधानवादी भी चेतनाको ही मुख्य मानता है, नहीं तो वह जडके मुख्य लिङ्ग

+ समाजवाद पृ० ८१ † समाजवाद पृ० ९० ※ समाजवाद पृ० ९२।

⊠ समाजवाद पृ० ८१।९३

¶ समाजवाद भूमिका पृ० ५

तापस अकर्मण्यताका विरोध न करता ✽ क्योंकि वह प्रधानकी गौण अवस्था (जडता) को प्राप्त होना नहीं चाहता बल्कि प्रधानकी मुख्य अवस्था (चेतना) की ओर जानेको उत्सुक है । यदि यह जडता ही मुख्य होती तो जड मिट्टीका आदर चेतन मनुष्यसे अधिक होता तथा मृतकका जड शरीर जीवित मनुष्यसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता । यह सच है कि बिना तलवारके सिपाही नहीं लड सकता किन्तु बिना सिपाहीके तलवार युद्धमें क्या कुछ कर सकेगी ? मुख्य सिपाही है या तलवार ? मुख्य शरीर है या चेतना ? संचालक या संचालित यन्त्र ?

हम आत्मवाद व अनात्मवादमें मुख्य रूपसे तीन मत पाते हैं । एक द्वैतवाद, दूसरा वेदान्त, तीसरा जडवाद । जडवाद कहता है कि सब कुछ जड है, जडसे ही चैतन्य उत्पन्न हुआ । द्वैतवाद कहता है कि जड व चैतन्य दो तत्त्व हैं । तीसरा वेदान्त बताता है कि सब कुछ चैतन्य ही है, जो जड प्रतीत होता है वह भी चैतन्यका एक रूप ही है, जो इंद्रियानुभवके लिये ऐसा संहत हो गया है ।

इन विचारोंमें हम दो बात पाते हैं कि एक इसे जड बताता है, दूसरा इसे चैतन्य । जडवादियोंने इस सत्ताको " प्रधान " के नामसे पुकारा है और आत्मवादियोंने " ब्रह्म " नामसे । इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि एक इसे जड व प्रधान कहता है, दूसरा इसे चैतन्य व ब्रह्म ।

यदि जडवादियोंको केवल ईश्वरके उन समस्त पर्यायवाची नामोंसे विरोध हो, जो भूलोकको मानवी भावाओंमें ईश्वरके लिये नियत हो चुके हैं, तो हमें उनके इस " प्रधान " शब्दमें कोई आपत्ति नहीं । किसी तत्त्वको कोई नाम दिया जा सकता है । दूसरे जब यह सब कुछ चैतन्य है, दूसरा कुछ हैही नहीं, तब तो शब्द मात्र भी वही है तथा संस्कृत-साहित्यमें तो " प्रधान " शब्द ईश्वरवाची पारिभाषिक विशेषण है ही । संस्कृतमें तो परिभाषा की दृष्टिसे तथा वेदान्तभावसे " नीच " शब्द भी ईश्वरवाची है, क्योंकि नीच वही है जो नीचे है और ब्रह्म सर्वत्र होनेसे नीचे भी है, यद्यपि मनुष्यकी कलुषित, कठोर, परिमित, ससीम भावनाओंने इस "नीच" विशेषणको एक कलुषित, कठोर, ससीम अर्थमें रूढ कर दिया, तो भी इसकी मौलिकता ज्यों की त्यों बनी हुई है ।

रही जडताकी बात । सो इस जडसे चैतन्य उत्पन्न हो नहीं सकता । जड कहते हैं गतिहीन, अज्ञ नियमशून्य स्थितिको । गतिवान् तत्त्व तो स्थगित गतिको भी कर सकता है किन्तु जिसमें गति नहीं वह गति प्राप्त नहीं कर सकता जब तक गति देनेवाला भिन्न तत्त्व निमित्त न बन जावे । यह सब कुछ चैतन्य ही है, और जो कुछ जड प्रतीत होता है, वह चैतन्य की एक अवस्था है, छिपी हुई, दबी हुई, सोई हुई चेतना है, चेतनाकी संहत भूमिका है, गतिवान् जीवित पक्षीकी चेतनासे स्थिर अंडेकी जडताके तुल्य ।

जैसा कि हम पहले विचार कर आये हैं कि जडवादीको भी कामक्रोधादि दुःखदायी ही हैं और वह इनसे छुटकारा पाकर ही सुखी हो सकता है, तब जडवादीका लक्ष्य भी इनसे मुक्ति पाना ही होना चाहिये । यदि वह मनुष्यको पशु पक्षी आदिकी अपेक्षा कम आहिंसक (कामी, क्रोधी, लोभी, अहंकारी) मानता है तो वह पशुकी अपेक्षा अधिक चैतन्य भूमिकाको प्राप्त हो चुका है । इस विवर्तनको जडवादी उन्नति, क्रमविकास मानता है, अर्थात् जडतासे चैतन्यकी ओर गति करना, गमन करना । उन्नति पदका अर्थ है ऊपर को गति करना । जगत्का प्राणी विवर्तनद्वारा ऊपर को गति कर रहा है । जडवादीकी दृष्टिमें क्रम-विकास द्वारा बृहत्तर चेतना को प्राप्त हो रहा है । परन्तु यह बृहत्तर चेतना कहां है ? नीचे तो जडता, घोर जडता है, व्यक्तित्वविहीन मृत तत्त्वसी + ।

इस सम्बन्धमें जडवादी कुछ नहीं कहता । वह अनुभव व परीक्षण कर लेनेपर भी नहीं कह सकता कि इधर इस पृथिवीपर अतिजड, स्थूल तत्त्वमें भी छिपी हुई, दबी हुई चेतना ऊपर उठनेको उत्सुक है ।

(क्रमशः)

✽ समाजवाद पृ० २९ ।

+ संस्कृतमें मृत्तिका (मिट्टी) का अर्थ है मृत (Dead) । इससे स्पष्ट है कि मृत्तिका (मिट्टी) अर्थात् पृथिवीतत्त्व उस चेतना (ब्रह्म) की मृत अवस्था है ।

अयोध्याकाण्डका निरीक्षण

(२)

"वह खर राक्षस निडर, क्रोधी, दुष्ट, मनुष्यभक्षक, घमंडी, पापी और भयंकर है। जब ये राक्षस तापसीको देखते हैं, तब वे उसका वध करते हैं, इसलिये उनके डरसे ये तापसी दूसरे स्थानको जा रहे हैं। यह खर जब तक तुम्हारे ऊपर हमला नहीं करता तब तक तुम यहांसे दूसरे स्थानमें चले जाओ। यही तुम्हारे लिये अच्छा है। क्योंकि स्त्रियोंका साथ रहना कष्ट देनेवाला ही है। अतः चाहे तुमभी हमारे साथ चलो।"

ऐसा रामसे बोलकर बहुतसे तापसी वहांसे चले गये। पर कुछ श्रीरामचन्द्रके पास ठहरते भी थे। यहां ऋषियोंने रावणका पता रामको दिया था, खरका और रावणका संबंध भी बताया था। राक्षस भी रामचन्द्रका नाश करनेके लिये तत्पर थे और रामचन्द्र भी राक्षसोंका नाश करनेका विचार कर रहे थे।

राक्षस रामका द्वेष करते थे

रामचन्द्रजीने मारीचको घायल किया था और दूर फेंक दिया था, सुबाहुका वध भी उन्हींने किया था, ताटिका राक्षसीकाभी रामबाणसे वध हो चुका था। इसलिये रामपर राक्षसोंका क्रोध हो चुका था और रावणतक रामका वृत्तांत पहुंच चुका था।

खर राक्षस विश्रवा ऋषिका पुत्र राकासे उत्पन्न हुआ था और यह रावणका सौतीला भाई था और शूर्पणखा रावणकी बहिन थी (म. भा. वन०)। खर राक्षस रावणका सीमा-संरक्षक सेनापति था, जिसके अधीन चौदह सहस्र राक्षसोंकी सेना सतत जागरूक थी। उसके नीचे चौदह सेनापति भी थे। इस तरह यह खर रावणके आदेशसे वहां रहता था और आर्य राजाओं और वानर राजाओंका मेल नहीं होने देता।

मारीच राक्षस सुंदसे ताटिकामें पहिला जन्मा पुत्र था। सुमालीके चार प्रधानोंमें मारीच भी एक प्रधान था। ऋषि विश्वामित्रके यज्ञके संरक्षण करनेके लिये राम लक्ष्मण गये थे, इन्होंने मारीचको घायल किया था। इसके पश्चात् वह रावणके पास ही रहने लगा था। इस तरह रामचन्द्रके प्रभावका वृत्त रावणने सुना था और रावणने भी खर राक्षससे कहा ही होगा कि रामचन्द्रकी हलचल पर ख्याल रख। इस तरह रामके विषयमें रावणको अच्छा पता लगा था और रावणका रामको भी।

सुबाहु भी सुंदसे ताटिकामें जन्मा पुत्र था। इसका वध विश्वामित्रके यज्ञके संरक्षण करनेके प्रसंगमें रामकेही बाणसे हो चुका था। जब यह बात रावणने सुनी तब उसने खरको आदेश दिया था कि रामका वध करना चाहिये। अर्थात् ताटिका-वधके समयसे ही रामके पराक्रम की बातें रावण सुन रहा था और रामके रूपमें एक शक्ति राक्षसोंके विरुद्ध बढ रही है, इसको दूर करना आवश्यक है, इतनी बात रावणके ध्यानमें आ चुकी थी।

इधर श्रीरामचन्द्र वनपर अपना राज्य है, ऐसे पितृप्राप्त अधिकारसे बर्ताव कर रहे थे, यह राक्षसोंसे सहन होना असंभवही था। अतः राक्षसोंके हमले वारंवार बढने लगे थे। प्रत्यक्ष रामपर हमले अभीतक नहीं हुए थे, पर ऋषिमुनियोंपर होते थे, क्योंकि उनकीहि हलचल रावण-साम्राज्यके नाश करनेके लिये बढ रही थी। ऋषियोंपर हमले होनेका तात्पर्य ही रामचन्द्रको आह्वान देना था। रावणको रामचन्द्रजीके सामर्थ्यका पता अच्छी तरह हो चुका था। राक्षसोंपर शस्त्र चलानेका धैर्य रामचन्द्रके पूर्व समयमें किसी भी आर्य कुमारमें नहीं रहा था। रावणका नाम सुनते ही आर्यवीर भागते थे। इस नव युवकमें भागनेका नामतक न रहा, पर एकके पीछे एक राक्षसोंका वध इस युवकसे होने लगा। राक्षसोंका प्रतिकार करनेके लिये ये आर्य युवक स्थान स्थानपर खडे होते थे और इनके शस्त्रोंसे राक्षसोंका वध भी होता था। यह बात रावणने इससे पूर्व कभी नहीं देखी थी, वह उसके आंखके

सामने अब होने लगी। इससे रावणने जान लिया था कि इन आर्य कुमारोंमें कुछ नयी विचार-प्रणाली शुरू हुई है, जो राक्षसोंके साम्राज्यके लिये बाधक होगी। इन आर्य युवकोंका उत्साह प्रतिदिन बढ रहा था और राम लक्ष्मणोंने इस समय तक कई राक्षस मार दिये थे, कइयोंको घायल करके छोड दिया था। घायल करके शत्रुको छोड देनेका तात्पर्य यही दीखता है कि इस नव शक्तिका पता राक्षसोंके केन्द्रस्थानमें शीघ्रातिशीघ्र पहुंच जाय। और इसी तरह बना भी।

अयोध्यामें राम, भरत, कैकेयी, कौसल्या आदिकोंके ज्ञातियोंके संघ प्रबल थे और वे एक दूसरेके विरुद्ध कार्रवाइयां करते थे। रामचन्द्र और भरतमें वैरका लेश भी नहीं था, तथापि उनके ज्ञातियोंके संघोंमें न्यूनाधिक संघर्ष अवश्य था। राजगद्दी इसको मिले और उसको न मिले, इस बारेमें इन संघोंमें स्पर्धा थी। यह स्पर्धा ऋषि, मुनि और देवोंने बढा दी थी। क्योंकि उससे ही रामचन्द्रजीका वनवास सिद्ध होनेवाला था। वैसा ही हुआ और रामचन्द्र वनमें चले गये। भरत अन्तःकरणसे शुद्ध था, इसमें संदेह ही नहीं है, पर उसके विषयमें भी विरुद्ध विचार अयोध्यामें कैसे फैले थे, देखिये—

भरतके विषयमें कौसल्याके विचार

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति।
जह्याद्राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते ॥
(अयोध्या. ६१)

' पंद्रहवें वर्ष रामचन्द्रके वनसे वापस आनेपर, भरत राज्य और कोश उनको सुखसे वापस देगा, ऐसा दीखता नहीं है।' यह कौसल्याका कथन है। इससे स्पष्ट होता है कि कौसल्याके मनमें भी भरतके विषयमें कुछ न कुछ संदेह था। यद्यपि कौसल्याने ऐसा कहा और अन्योंने भी भरतके विषयमें संदेह प्रकट किया, तथापि भरतके आचरण में ऐसा एकभी स्थान नहीं दीखता कि जिससे उक्त संदेहका समर्थन हो जाय। इससे इतनाही सिद्ध हो सकता है कि अयोध्यानगरीमें कैकेयी, कौसल्या, राम आदिकोंके अनुयायियोंके संघ थे। दशरथ राजा होनेके कारण उसका भी एक प्रबल अनुयायी-संघ था और इस समय इन पक्षोंमें बडी स्पर्धा थी, बडा संघर्ष था और ये अनुयायी लोग दूसरोंके विषयमें बुरी भली बातको फैलाते थे। इस तरह इन्होंने भरतके विषयमें भी संदेह फैलाये रखे थे। वे बातें कौसल्यातक पहुंची होंगीं और उनके कारण कौसल्या को भी वैसा संदेह प्रतीत हुआ होगा। चौदह वर्ष राज्य करनेके बाद भरतके मनमें राज्य, धन और अधिकारका लोभ उत्पन्न होना संभव है और ऐसा लोभ उत्पन्न हुआ, तो यह भरत श्रीरामचन्द्रको राज्य वापस नहीं करेगा, ऐसी शंका मनमें उठाकर कौसल्या शोक कर रही है। अयोध्याके जनसंघोंमें कौनसे विचार कितने प्रबल हुए थे, इसका यह एक उदाहरण है।

भरद्वाज मुनिभी भरतके विषयमें संदेह प्रकट करते हैं।

भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबंधनात्।
किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ९
एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुध्यते मनः।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ११
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च १३
(अयोध्या. स. ९०)

" रामचन्द्रके विषयमें मनमें अत्यंत आदर-भाव होनेके कारण भरद्वाज ऋषि भरतसे बोलने लगे– ' हे भरत! राज्यका शासन करनेके समय ही तुम्हारे यहां वनमें आनेका कारण क्या है? तुम्हारे मनमें शुद्ध हेतु है, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। इस बारेमें मेरे मनमें बडा संदेह उत्पन्न हुआ है। रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण वनमें चले गये हैं। अब तुम उन निष्पापोंका और कौनसा अहित करना चाहते हैं? उनको जडसे उखाड देनेका तो तुम्हारे मनमें विचार नहीं है ना?" यह भरद्वाज ऋषिका भाषण उस समय भरतके संबंधमें कैसे विचारप्रवाह फैले हुए थे, इसका द्योतक है।

भरद्वाज जैसे ऋषि भी अपने विषयमें ऐसा संदेह मनमें धारण कर रहे हैं, यह देखकर भरतको बडाही दुःख हुआ और वह बोला– " हे ऋषिवर! आप भी मेरे विषयमें ऐसा ही संदेह अपने मनमें धारण करते हैं, तब तो मेरा

जीवन ही व्यर्थ हुआ, इसमें क्या संदेह है ? मेरी माता कैकेयीने जो किया, वह मुझे बिलकुल पसंद नहीं है। मैं वनमें इसलिये जा रहा हूं कि मैं रामचन्द्रको वापस लाकर राजगद्दीपर उनको बिठाऊंगा। मैंने ऐसा ही निश्चय किया है।" यह भरतका भाषण श्रवण करके भरद्वाज ऋषिको बडा आनन्द हुआ और पश्चात् उन्होंने भरतको प्रेमसे आशीर्वाद भी दिया।

गुहके मनमें भी भरतके विषयमें संदेह

भरतके चतुरंग सेनाको गंगा नदीके तटपर देखकर गुह अपने अनुयायियोंसे बोला- " हे धीवरो ! यह महासागरके समान बडीभारी सेना यहां (नास्यान्तं अवगच्छामि) किस उद्देशसे आयी है, इसका पता मुझे नहीं लगता। यह ' कोविदारध्वज ' दीख रहा है, इससे स्पष्ट है कि (दुर्बुद्धिः भरतः स्वयं आगतः) दुष्ट बुद्धिवाला भरत ही दुष्ट भावसे यहां आया है। इसमें संदेह नहीं कि यह रामचन्द्रजीका घातपात अवश्य ही करेगा। मैं श्रीरामचन्द्रजीका मित्र हूं। (बन्धयिष्यति वधिष्यति वा) अतः यह भरत हमारा बन्धन करेगा अथवा वध भी करेगा। कदाचित् यह (रामं हन्तुं) रामचन्द्रजीका वध करनेके लिये भी आया होगा। राम मेरा मित्र है, इसलिये हे धीवरो ! उस रामका हित करने के लिये तुम सब यहाँ तैयार और सज्य होकर रहो। (अयोध्या. स. ८४।२-८) प्रत्येक नौकामें सौ सौ तरुण कैवर्त धीरोंको तैयार रखो और ऐसी पांच सौ नौकाएं तैयार रखो। यदि भरत शुद्ध हेतुसे आया होगा, तो हम सब सहाय्य करके उसको पार कर देंगे। पर यदि उसमें कुछ कपट-भाव हो, तो उसे नदी पार होनेमें हम सहायता नहीं करेंगे।" (अयोध्या. स. ८४।९ १०) ऐसा कहकर निषाद-राज गुह भरतके पास आया और भरतसे बोला—

अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहन-गोचरः।
दाशास्त्वनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुसमाहिताः ५
अहं चानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल।
कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ६
इयं ते महती सेना शंकां जनयतीव मे।
(अयोध्या. स. ८५)

भरतने जब भरद्वाज ऋषिके आश्रमके पास पहुंचनेका मार्ग पूछा, तब अरण्यनिवासी गुह हाथ जोडकर भरतसे कहता है— " हे राजपुत्र भरत ! हमारे सब धीवरोंको साथ लेकर मैं तुम्हारी सहायता करूंगा और तुम्हें नदीपार पहुंचाऊंगा। पर मुझे इस बातका पूरा पता होना चाहिये कि तुम जो इतनी बडी सेना लेकर रामके पास जानेके लिये वनमें आये हो, तो उसमें तुम्हारा उद्देश्य पापमूलक तो नहीं है ? तुम्हारे साथ इतनी बडी सेना है, इसलिये मनमें संदेह उत्पन्न होता है। "

इसके पश्चात् भरतने उसे अपने आनेका उद्देश्य कहा और स्पष्ट कह दिया कि ' रामचन्द्रजीको वापस ले जाकर राजगद्दीपर बिठलाना है, इसलिये मैं सब मंत्रियों और सैनिकोंके साथ आया हूं। ' जब इस तरह गुहका निश्चय हुआ, तब नदीपार जानेके लिये गुहने भरतको संपूर्ण सहायता की।

परंतु इससे पूर्व गुहने ५००० पांच सहस्र सैनिकोंद्वारा भरतका प्रतिकार करनेकी तैयारी की थी। पांच सहस्र सेना तैयार रखनेके पश्चात् ही गुह भरतके पास पहुंचा था। अयोध्याके पक्षोपपक्ष आपसमें कितनी स्पर्धा कर रहे थे और प्रतिपक्षके संबंधमें कैसी अपवार्ताएं फैलायीं गयीं थीं इसका पूर्ण पता यहां लगता है। भरद्वाज ऋषि और गुह जैसा कुलमित्र ये सब भरतके विषयमें संदेह कर रहे हैं और इनमेंसे एक भी भरतके साथ शुद्ध भावसे बोलता नहीं, यह यहां देखने योग्य है। इतना प्रतिकूल वायुमण्डल होने पर भी भरत अन्तर्बाह्य शुद्ध था, इसी लिये वह विशेष प्रशंसा योग्य है—

भरतका शुद्ध भाव

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ११
कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि १०
(अयोध्या. स. ८२)

' ब्रह्मचर्य पालन करके जो स्नातक हुआ है, जो बुद्धिमान् है और जो प्रयत्नपूर्वक धर्मका पालन करना चाहता है, उस रामचन्द्रका राज्य मेरे जैसा भाई किस

तरह हरण करेगा ? दशरथसे उत्पन्न हुआ सुपुत्र अपने श्रीरामचन्द्र जैसे भाईके ही राज्यका कैसे हरण करेगा ? हे वसिष्ठ ऋषे ! आपको तो उचित है कि आप हमें ठीक धर्मका मार्गही कहें ।'

इस तरह वसिष्ठ ऋषिसे भरतने सबसे प्रथमही कहा था। दशरथके बीजसे उत्पन्न हुआ पुत्र कभी लोभी नहीं हो सकता, ऐसा भरत यहां कहता है। अपने कुलमें ऐसे लोभी कोई नहीं हुए, ऐसा वह यहां कह रहा है। इससे उसके अन्तःकरणकी शुद्धताका पता लगता है।

जिस समय भरतने यह भाषण किया था, उस समय वहां कोई भी भरतके राज्य स्वीकार करनेके विरुद्ध नहीं था। बाह्यतः क्यों न हो, पर सब मन्त्री इसके राज्यके स्वीकार करनेके अनुकूल ही थे। पर भरतने ही स्वेच्छासे प्राप्त हुआ राज्य लिया नहीं, इससे भरतके अन्तःकरणकी पवित्रता अधिक ही प्रकट हो रही है।

भरतका अन्तरङ्ग

भरतका अन्तःकरण कितना शुद्ध और निष्कलंक था, यह नीचे लिखे उसके भाषणसे स्पष्ट हो सकता है-

किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च २
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम्।
कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ३
अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैः बुद्धिबलेन वा।
सकामां न करिष्यामि त्वां अहं पुत्रगर्धिनीम् १७
एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघे।
निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम् २६
(अयोध्या. स. ७३)

" पिता तथा पिताके समान मेरे भाई श्रीरामचन्द्रजीका वियोग हो जानेपर मेरा सर्वस्वही विनष्ट हुआ है, इसलिये शोकाकुल हुए मेरे लिये राज्य लेकर क्या करना है ? राजाका वध करके और प्रभु रामचन्द्रजीको तापसी बनाकर, तू इस हमारे कुल-वंशका नाश करनेवाली कालरात्रिहि यहां प्राप्त हुई है ! मुझे यद्यपि मंत्रियोंकी सलाहसे राज्य करनेका सामर्थ्य प्राप्त होनेकी संभावना होगी, तथापि तेरी जैसी पुत्रके लिये लोभवश होकर ऐसे घोर कर्म करनेवाली माताका दुष्ट मनोरथ मैं कदापि सफल होने नहीं दूंगा। इसलिये जो तुझे पसंद नहीं है, वही करनेके लिये मैं रामचन्द्रजीको वनसे वापस ले आऊंगा।"

इस समय भरत सहजहीसे प्राप्त हुआ राज्य छोडनेके लिये तैयार हुआ है और रामचन्द्रजीको प्रयत्नसे वनसे वापस लाकर राजगद्दीपर बिठलानेके लिये सिद्ध हुआ है। इस समय अयोध्यामें जो परिस्थिति थी, वह सर्वथा भरतके लिये प्रतिकूल थी, इसकाभी अनुभव भरतने किया ही होगा। परंतु प्रारंभसेही भरतका आचरण पूर्णतया निर्दोष दीखता है। भरतने रामचन्द्रजीका चित्र अपने पास रखा था, तथा उस चित्रका वह परम आदर करता था। इस तरह रामभक्ति भरतके अन्तःकरणमें थी। कैकेयीके ज्ञाति-बान्धवोंने जो षड्यन्त्र अयोध्यामें रचा था, उस पक्षका मत बोलनेवाली मन्थरा वहां थी, इस मंथराको ऋषि, मुनि तथा देवोंने प्रभावित किया था, यह तो स्पष्ट ही है। पर पहिलेसेही आपसमें स्पर्धा न होती, तो ऋषिमुनियोंको भी मन्थरापर प्रभाव डालना असंभवही था।

भरत यद्यपि पितामहके घरमें था, तथापि उसका हृदय दशरथ और रामचन्द्रके साथ मिला हुआ था। इस तरह एकतानता होनेसे ही इधरके विचार उधर पहुंचते और कार्य कर दिखाते हैं। इसी तरह दशरथकी मृत्युका और इधरके शोकपूर्ण वायुमण्डलका प्रतिबिंब भरतके अन्तःकरणमें पडा और उससे जो उसके मनकी अवस्था बनी, उसीसे उसको वह घोर स्वप्न आया था, जिसका वर्णन इस तरह किया गया है-

भरतका घोर स्वप्न

राजा दशरथकी मृत्यु अयोध्यामें हुई, जिसकी खबर दूतोंद्वारा भरतको पहुंचाई गई। उसी समय भरत अपने स्वप्नका विचार करके बडा दुःखी हुआ था। अर्थात् अयोध्याके दुःखी अन्तःकरणोंका प्रभाव भरतके कोमल अन्तःकरणपर हो चुका था। भरतको रात्रिके समय जो स्वप्न आया था, वह इस प्रकार था—

'समुद्र सूख गया, चांद भूमिपर गिर पडा, पृथ्वीपर बडा अन्धेरा छाया है, राजा दशरथ जिस हाथीपर सवार होता था, उस हाथीके दांत टूटकर टुकडे टुकडे होकर इतस्ततः गिर पडे हैं, भूमिके दो भाग हो गये हैं, लोहेके

आसनपर राजा बैठ गया है, लाल फूलोंकी मालाएँ उसके गलेमें हैं, शरीरपर लाल चन्दन लगा है, गधोंके रथमें बैठकर राजा दक्षिण दिशामें जा रहा है, भयानक मुँहवाली राक्षसी राजाको खींचकर ले जा रही है।'

ऐसा वह भयानक स्वप्न भरतने रात्रिमें देखा था। यह स्वप्न अशुभसूचक है, ऐसा उसके मनमें विचार उठा था, जिससे वह बडा दुःखी हुआ था। भरत इस स्वप्नके संबंध में अपने मित्रोंके साथ बातचीत कर रहा था, इतनेमें अयोध्यासे रवाना हुए दूत वहां पहुंचे और उन्होंने बुलानेका संदेशा भरतको दिया।

किसीकी मृत्यु होनेपर ऐसे भयानक स्वप्न सहृदय संबंधियोंको आते ही हैं। ये स्वप्न सबको नहीं आते, पर उनकोही आते हैं कि जो प्रेमसे भरे रहते हैं। इस स्वप्नसे भरतके शुद्ध अन्तःकरणका पता लग सकता है।

भरतका प्रायोपवेशन

वसिष्ठ ऋषिने रामचन्द्रजीसे कहा कि 'हे राम! मैं तो तुम्हारा गुरु हूं। तथा मैं तुम्हारे पिताका भी गुरु हूं। इसलिये मेरी आज्ञा है, इसलिये तुम इस राज्यका स्वीकार करो। इससे सत्य मार्गका उल्लंघन होनेका पाप तुम्हें नहीं लगेगा।' (अयोध्या. स. ११२।१-८)

इसपर श्रीरामचन्द्रजीने जो उत्तर दिया वह यह है– 'मातापिता अपने बालबच्चोंपर जो उपकार करते हैं, उनका बदला उनको कभी नहीं दिया जा सकता। पुत्रको जो चाहिये वह वे देते हैं, उसको सुलाते हैं, उसके शरीर को तेल लगाते हैं, मीठा भाषण करते हैं, हंसी खेल करते हैं, इस प्रकार मातापिता बच्चोंकी पालना करते हैं। इन उपकारोंके बदले पुत्रोंसे प्रत्युपकार किसी तरह हो नहीं सकता। इसलिये मेरे जनक पिताने जो आज्ञा मुझे की है, उसका पालन मुझे करना अत्यावश्यक ही है, उसमें किसी तरह अन्यथा नहीं हो सकता।'' (अयोध्या. ११२।८-११)

इस तरह श्रीरामचन्द्रका निश्चययुक्त भाषण सुनकर भरतने उसी पर्णशालाके द्वारमें बैठकर उपवास करते हुए मर जानेका निश्चय किया और इस सत्याग्रहसे रामचन्द्रजी को अपने अनुकूल बनानेका अन्तिम यत्न उसने किया।

भरतने ऐसा निश्चय किया, पर वैसा बननेवाला न था। कारण यह था कि रामचन्द्रजी इस समय राक्षसोंका संपूर्ण नाश करके दण्डकारण्यको राक्षसोंसे मुक्त करनेकी आयोजना सिद्ध करनेका विचार कर रहे थे। श्रीरामचन्द्रजीकी महत्त्वाकांक्षा इस समय बढ रही थी। राज्यके मोहमें अटक कर इस कार्यको दूर करना अब उनके लिये असंभवसा ही था।

श्रीरामचन्द्रकी प्रतिज्ञा

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञां अहं पितुः॥
(अयोध्या. स. ११२।१८)

'चन्द्रमाका तेज उससे कदाचित् दूर होगा, हिमालय हिमसे रहित भी होगा, समुद्र अपनी वेलाका अतिक्रमण भी कदाचित् करेगा, पर मैं पिताकी आज्ञाका कदापि उल्लंघन नहीं करूंगा।'

रामचन्द्रजीकी यह कठोर प्रतिज्ञा है। इनकी प्रतिज्ञा सदा अटलही होती थी। वनवासकी प्रथम रात्रिमें श्रीरामचन्द्रको बहुतही दुःख हुआ था, यह सत्य है, पर उनका संबंध ऋषिमुनियोंसे होनेके अनंतर उनके सामने कर्तव्यका एक महाक्षेत्र ही खुला हुआ, तब पुरुषार्थी और कर्तव्यतत्पर रामचन्द्रजीको राज्य-वैभव तुच्छ प्रतीत हुआ और उस कर्तव्यको निभाना ही उनको अपने जीवनका सर्वस्व प्रतीत हुआ। अपने स्वकीय पराक्रमसे राक्षसोंका समूल नाश करके दण्डकारण्यको सुरक्षित तपोवन बनाना, यह कार्य राज्य-शासनसे कई गुणा महत्त्वका है। यह बडा देवकार्य था और ऋषि-मुनियोंकी सेवा भी इसीसे होनेवाली थी। इसलिये रामचन्द्रजीकोभी राजगद्दीपर बैठनेसे यह अधिक श्रेष्ठ कर्तव्य था, ऐसा उनको प्रतीत हुआ।

पिताका वचन

उवाच रामः संप्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम्॥ १७
विक्रीतं आहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा॥ १८
उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम्॥ २९
(अयोध्या. स. ११२)

" पिता जीवित थे, उस समय उन्होंने जो कुछ किसीको बेचा हो, जो कुछ धरोहर रखा हो, अथवा जो मोल लिया हो, वह मुझे अथवा भरतको बदल देना असंभव है। कैकेयीने जो कहा, वह योग्य ही था और पिताजीने जो आज्ञा की, वह भी योग्य ही थी। "

इसलिये हमें उचित है कि हम दोनों भाई अपने पिताजीको असत्य प्रतिज्ञासे मुक्त करें। पिताको सत्य-प्रतिज्ञ करनेसेही हम अपने जानपदविषयक अपने कर्तव्य-को अच्छी तरह निभा सकते हैं। यह जानपदविषयक कर्तव्यकी बात इस समय रामचन्द्रजीके मनमें प्रमुख स्थान रखती थी। इसलिये वह इसके बाद किसी भी प्रलोभनमें फंस जाने की संभावना नहीं थी। इस समय इस तरह रामचन्द्रजी अपनी प्रतिज्ञापरहि स्थिर रहते हैं, इसका कारण यह है।

लक्ष्मणका क्रोध

जब लक्ष्मणने सालवृक्षपर चढकर भरत अपनी बडी सेनाके साथ आ रहा है ऐसा देख लिया, तब उसका क्रोध बेहद बढ गया और वह रामसे कहने लगा—

"हे रामचन्द्रजी ! इस भरतके कारणही आप राज्यसे भ्रष्ट हुए हैं, वही हमारा शत्रु भरत आज हमारी ओर पहले आ रहा है। इस समय इसका वध करनाही योग्य है। इसके वध करनेमें कोई भी दोष नहीं है। प्रथम उसीने हमारा अपकार किया है, अतः उसका वध करना धर्मके अनुकूलही है। ... उनके अनुयायियोंके साथ कैकेयीकाभी वध मैं करूंगा। आजही यह पृथ्वी इन पापी लोगोंसे विमुक्त हो जावे। " (अयोध्या स. ९७)

रामने लक्ष्मणका यह भाषण सुना और उसका क्रोध शान्त करनेके लिये उसको सुयोग्य बोध किया। वह लक्ष्मणसे बोले—

" इस तरह वध करके जो भोग मिलेंगे, उनको मैं विषके समान ही त्याज्य समझता हूं। अधर्मसे प्राप्त होने-वाला राज्य मुझे नहीं चाहिये। भरत जो आ रहा है वह मुझे ले जाने और राज्यपद मुझे (राज्यं मे दातुं) वापस देनेके लिये आ रहा है। भरतने कभी तेरा या मेरा कोई अहित किया तो नहीं ? फिर उसके आनेसे डरनेका क्या भला प्रयोजन है ? इस लिये तू भरतके साथ कठोर भाषण न करना। " (अयोध्या. स. ९८)

इस तरह भाषण करके श्रीरामचन्द्रने लक्ष्मणका क्रोध दूर किया और भरतके साथ प्रेम-भावसे मिलनेके लिये रामचन्द्रजी तैयार हुए। अस्तु, इस लक्ष्मणके भाषणसे इस बातका अवश्य पता लगता है कि भरतके विषयमें कहां-तक अविश्वास लक्ष्मण जैसे राजपुत्रोंमें फैला था।

" दूसरेके द्वारा भोगा हुआ राज्य राम नहीं लेगा "

राणी कौसल्या रामचंद्रके वनवासके विषयमें शोक करती हुई कहती है—

(१) जिस तरह अपने बान्धवोंको पहिले भोजन दिया गया और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको पीछेसे भोजन करने बिठलाया, तो वह श्रेष्ठ ब्राह्मण पसंद नहीं करते। (अयोध्या. ६१।१२-१३)

(२) जिस तरह सींगोंको उखाड देना बैलोंको पसंद नहीं होता। (अयोध्या. स. ६१-१४)

(३) जिस तरह दूसरेने वध किये पशुका मांस वाघ नहीं खाता। (अयोध्या. स. ६१।१५-१६)

(४) जिस तरह हविर्द्रव्य, घी, पुरोडाश, दर्भ, खदिर वृक्षका यूप एकवार यज्ञमें बर्तने पर पुनः बर्ते नहीं जाते। (अयोध्या. स. ६१।१७)

इसी तरह भरतके द्वारा उपभोग किया हुआ राज्य मेरा राम कभी नहीं स्वीकार करेगा—

तथा ह्यात्तमिदं राज्यं०।
नाभिमन्तुमलं रामो० १८
(अयोध्या. स. ६१।१८)

यहां राणी कौसल्या ऐसा कहती है कि छोटे भाईके द्वारा प्रथम भोगा गया राज्य बडा भाई किस तरह उप-भोगेगा ? वस्तुतः राज्यके संबंधमें ऐसा माननेका कोई कारण नहीं है। पर स्त्रियोंमें ऐसे भाव होना संभव है। कौसल्याका मन कैकेयीके विषयमें अत्यंत संत्रस्त होनेके कारण कौसल्याके मुखसे ऐसे शब्द प्रकट हो रहे हैं।

शत्रुघ्नका मत

स रामः सत्त्वसंपन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् २
बलवान् वीर्यसंपन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
किं न मोचयते रामं कृत्वाऽपि पितृनिग्रहम् ३
पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ४
(अयोध्या. स. ७८)

" इतना बलवान् राम, पर एक स्त्रीने उसे वनमें भेज दिया! उसका भाई लक्ष्मण भी बडा बलवान् था, उसने पिताको बंधनमें रखकर रामको मुक्त करना योग्य था। न्याय अथवा अन्यायका विचार न करते हुए एक स्त्रीके अधीन होकर ऐसा अन्याय करनेवाले राजाको उसने अवश्य बंधनमें रखना चाहिये था । "

शत्रुघ्न भी लक्ष्मणके समान ही यहां बोल रहा है। सुमित्राके दोनों पुत्र समानही विचारके दीख रहे हैं।

मंत्रियोंसे पूछाताछ नहीं

रामचन्द्र जैसे लोकप्रिय राजपुत्रको वनवासमें भेजनेके पूर्व राजा दशरथने अपने मंत्रियों तथा वृद्धोंसे मंत्रणाभी नहीं की थी । देखिये—

कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभावया ।
मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् १७
न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा न नैगमैः ।
मयायमर्थः संमोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः १९
भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया २०
(अयोध्या. सर्ग ५९)

राजा दशरथने वहां उपस्थित सूतसे कहा- "दुष्ट कुलमें तथा दुष्ट लोगोंमें उत्पन्न हुई कैकेयीने रामचन्द्रको वनमें भेजनेके लिये प्रेरणा की, परंतु मैंने इसका विचार अपने मंत्रियों, इष्ट-मित्रों और विद्वानोंसे करना चाहिये था, वह मैंने नहीं किया। स्त्रीके कारण यह बडा अनर्थ मुझसे बन चुका है। इसका परिणाम अब निःसंदेह कुलका नाश होनेमें होगा, इसमें कुछभी संदेह नहीं है। "

राजा दशरथ जैसे धर्मात्मा राजाने इतने बडे विवादास्पद विषयका विचार अवश्यही अपने मन्त्रियोंके साथ करना चाहिये था । एक स्त्रीने कहा और राजाने श्रीरामचन्द्रजीको एकदम वनमें भेजा और नगरसे बाहर कर दिया, यह ठीक नहीं हुआ। रामचन्द्रको यौवराज्यका अभिषेक करनेका निश्चय लोक-सभाने किया था, इसलिये उसी रामचन्द्रको नगरसे बाहर निकालने और वनमें भेजनेके विषयमें तो अवश्यही उन लोकसभाके सदस्योंसे परामर्श करना चाहिये था। पर दशरथने यहां जनमत की पर्वाह नहीं की, यह उचित नहीं हुआ।

राजपुत्रको राजगद्दीपर बिठलानेके लिये इस समय जनताके प्रतिनिधियोंकी संमति लेनी पडती थी। इस समय ऐसी ही प्रथा थी । यह परिपाठी उत्तम है इसमें संदेह नहीं है । इससे राजपुत्रकोभी अपना आचार व्यवहार लोकप्रिय होने योग्य उत्तम रखना पडता था। जिससे राजपुत्रोंका सुधार ही होता था। जन्मके कारण राज्य नहीं मिलेगा, परंतु जनताकी अनुमतिसे ही राज्य मिलेगा ऐसा होना अत्यंत आवश्यक है। जनताकी संमति-की अपेक्षा राजपुत्रकी पसंदगीके लिये होनेसे इस पद्धति का दबाव राजपुत्रपर रह सकता है, जिससे उसका सुधार होना संभव है । इस पद्धतिके अनुसार राजा दशरथने जनताके मुख्य प्रतिनिधियोंकी एक सभा बुलायी थी और उस सभाने श्री रामचन्द्रजीको यौवराज्यपर बिठलानेके लिये अपनी संमति भी दी थी। सब राजमन्त्री भी वहां थे, उन्होंने भी अपनी अनुकूल संमति प्रकट की थी, जनताके प्रतिनिधियोंकी संमति तो अनुकूल थी हि । ऐसे जनसंमतिसे नियुक्त हुए राजपुत्रको एक पत्नीके आग्रहके कारण वनवासमें भेजना और किसी योग्य कारणके विना नगरसे बाहर करना कदापि योग्य नहीं था। ऐसे समयमें राजाने अपने सब मंत्रियों और जनताके प्रतिनिधियोंकी संमति लेनी चाहिये थी । जनताकी संमति मिलनेके कारण रामचन्द्रजी जनताके बन चुके थे, उसपर केवल पिताकाही अधिकार नहीं रहा था। ऐसा होनेपर भी राजाने एकदम रामचंद्रजीको वनमें भेज दिया, यह राज्यशासनके नियमोंके अनुकूल नहीं हुआ। सब जनताने इसीलिये उस दिन राजा दशरथका निषेध और धिक्कार किया था । केवल निषेध करकेही जनता चुप नहीं रही, परंतु श्रीरामचन्द्रके साथ

सब लोग वनमें गये और अयोध्या उस दिन जनशून्यसी ही हो चुकी थी। जनताका द्वारा इतनाही हो सकता था, वह जनताने उत्तम रीतिसे किया।

जनता तो रामचन्द्रके साथ रहना अथवा उनको वापस अयोध्यामें लाना चाहती थी। पर रामचन्द्रजी ही अयोध्यामें रहना नहीं चाहते थे। सच देखा जाय तो राजा दशरथने अपने मुखसे रामचन्द्रजीको वनमें जानेकी आज्ञा ही नहीं की थी। कैकेयीने ही जो कुछ कहना था, वह कह दिया था। राजा दशरथ शोकाकुल होकर चुप था, इतनाही नहीं पर कैकेयीका धिक्कार भी करता था। अर्थात् दशरथ राजाने रामचन्द्रजीको वनगमनकी आज्ञा दी नहीं थी।

वहां जो मंत्री थे, कुल-पुरोहित वसिष्ठ ऋषि वहां थे, ये सब कैकेयीके निषेध कर रहे थे। सब मंत्रियोंकी संमति रामके वनगमनके विरुद्ध थी। दशरथने तो ऐसा स्पष्ट कह दिया था कि 'अपनेको कैद करके राम राज्यका स्वीकार करे।' दशरथ राजाके मुखसे जो शब्द आज्ञारूपसे निकले थे, वे ये थे। उसने रामचन्द्रजीको वनगमनकी आज्ञा दी नहीं थी। परंतु श्रीरामचन्द्रजीने राजा दशरथकी वचनबद्धतासे मुक्तता करनेके लिये स्वयं वन-गमनका स्वीकार किया था। इस लिये राजा दशरथपर यह दोष नहीं आता कि एक निरपराधीको ऐसी कडी सजा दी गयी। ऋषियोंकी रावण-साम्राज्यका नाश करनेकी आयोजना वसिष्ठ ऋषिको ज्ञात थी। इस लिये प्रतीत ऐसा होता है कि वे अन्तःकरणसे चाहते ही थे कि रामचन्द्र वनमें जाय। तथापि शिष्टाचारके तौर परहि उन्होंने कैकेयीका निषेध किया था। इससे अधिक बल उन्होंने नहीं लगाया था। जब विश्वामित्र ऋषिने यज्ञकी सुरक्षाके लिये रामचन्द्रको मांगा था, तब वसिष्ठ ऋषिने रामचन्द्रको वनमें भेजनेके लिये राजा दशरथको उत्साहित किया था। ऐसा बल इस समय वसिष्ठ ऋषिने नहीं लगाया। इसका हेतु स्पष्ट है कि वे चाहतेही थे कि श्रीराम वनमें चले जायँ। वसिष्ठ ऋषि इस समय जो हो रहा था उसको वैसाही होने देनेमें अन्दरही अन्दरसे उत्सुक थे। श्रीरामचन्द्रजीको इस समय विश्वामित्रकी यज्ञरक्षाके समयके अनुभवसे यह विदित हो चुका था कि राक्षसोंका बडा उपद्रव अपने देशवासियोंको हो रहा है, इसलिये इसका प्रतिकार करना चाहिये। तथापि इस समय इस उद्देश्यसे रामचन्द्रजीने वनवासका स्वीकार किया, ऐसा नहीं कह सकते। अर्थात् इस समय पिताको उऋण करनेके लिये ही उन्होंनें वनवास का स्वीकार किया था। पश्चात वनमें जानेके कई महिनोंके नंतर राक्षसोंके अत्याचारोंका सारा वृत्तांत उसके सम्मुख आया, जिसके पश्चात् जैसी घटना बननी चाहिये थी वैसी बनी।

रामचन्द्रजीका संदेश

सर्वं अन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात् त्वया १६
आरोग्यं अविशेषेण यथार्हमभिवादनम्।
माता च मम कौसल्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः १७
धर्मनित्या यथाकालं अग्न्यागारपरा भव।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनां इदं वचः १८
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय।
अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु १९
अनुराजानं आर्यां च कैकेयीं अम्ब कारय।
कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत्।
अप्यज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मरन् २०
भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु २१
वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय २२
अतिक्रान्तवयो राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् २३
(अयोध्या. स. ५८)

'हे सूत! मेरे कहनेके अनुसार तुमने यहांसे जाकर अन्तःपुरके सब स्त्रियोंसे कुशल प्रश्न पूछनेके पश्चात् मेरा प्रणाम यथायोग्य रीतिसे कहना। मेरी माता कौसल्याको मेरा प्रणाम कह और यह भी कह दो कि सदा सावधानतासे ही रहो, तथा—

१. योग्य समयमें प्रतिदिन यज्ञशालामें जाकर होमहवन की ओर ध्यान देना,

२. राजाकी योग्य रीतिसे सेवा करो और दक्षतासे रहो,

३. मेरी अन्य माताओंके साथ अहंकार छोडकर शान्तियुक्त मनके साथ व्यवहार कर,

४. कैकेयी माताकी इच्छाके अनुसार राजा चलता है, इसलिये उसके साथ कभी विरोध न कर,

५. कुमार भरतके साथ राजाके साथ बर्तनेके समानही बडे आदरके साथ बर्ताव करो, क्योंकि आयुसे छोटे भी क्यों न हो, राजा पूजनीयंही होता है, यह राजधर्मका तत्त्व है, इसका अवश्य स्मरण रखो,

६. कुमार भरतको मेरा यह संदेश कहो कि तू सब माताओंके साथ यथान्याय बर्ताव करो। यौवराज्यपर आरूढ होनेके पश्चात् भी वृद्ध राजाकी आज्ञाका यथायोग्य पालन करो, राजासे कभी विरोध न करो।

इस संदेशमें श्रीरामचन्द्रने दशरथ राजाका वर्णन 'कैकेयीके मतानुसार वर्तनेवाला' ऐसा किया है, यह वर्णन उसके अन्तःकरणके आन्तरिक भावोंका सूचक है। तथा युवराजके स्थानपर कार्य करनेवाला आयुसे छोटा हुआ तो भी सन्मान देने योग्य है, ऐसा जो कहा है तथा भरतके साथ भी राजाके समान आदर-भावसे बर्ताव कर ऐसा जो अपनी मातासे कहा है, वह भी श्रीरामचन्द्रके आन्तरिक भावोंका सूचक है।

श्रीरामचन्द्रजी अपनी माताको (अ-प्रमादं) प्रमाद न करते हुए सावध रहनेकी सूचना कर रहे हैं। राजमहलमें उस समय बडी विकट समस्या बनी थी, यह इससे स्पष्ट दीख रहा है। राजा मृत्युके वश होगा अथवा निर्बल होगा, कैकेयीका महत्त्व बढ जायगा, इस कारण कौसल्याको बडा दुःख सहना पडेगा, यह जान करही श्रीरामचन्द्रजी ऐसा संदेश अपनी माताको भेज रहे हैं। अभिमान छोडकर, नम्रतासे बर्ताव करनेकी बात इस संदेशमें है। इससे स्पष्ट होता है कि कौसल्याकी परिस्थिति बडी शोचनीयसी हो चुकी थी। वास्तवमें देखा जाय तो सम्राट्की पट्टाभिषिक्त महारानी कौसल्या थी, परंतु कैकेयीके अधीन राज्यके सब सूत्र जानेके समान व्यवस्था बनी थी। इसलिये वह बडी घमण्ड करने लगी थी। राजा दशरथ तो उसके अधीनसा बन गया था, इस कारण कौसल्या बडीही दुःखी बन चुकी थी। यह सब परिस्थिति इस रामचन्द्रके संदेशमें स्पष्ट दिखाई दे रही है।

७

भरत आयुसे छोटा हुआ तो भी राजाके समान सन्मान के योग्य है, क्योंकि आयुसे छोटा भी राजा क्यों न हो, वह सन्मानके योग्य है, ऐसा रामचन्द्रजी कह रहे हैं, वह राजाकी अमर्याद सत्ताका द्योतक है। राजाका थोडासा भी अपमान हो जाय तो वह अपमानकर्ताका नाश करता है, इसीलिये श्रीराम अपनी मातासे कह रहे हैं कि भरत अब कुमार नहीं रहा, वह राजा हो चुका है, यह जानकर उसका सुयोग्य संमान करो और उसके साथ नम्रताका व्यवहार करो। राजाओंकी घातक शक्ति कितनी थी, इसका परिचय इस संदेशमें मिलता है। भरत इस नियमका अपवाद सिद्ध हुआ, यह बात और है। तथापि परिस्थिति कैसी थी, इसका पता यहां लगता है।

भरतके विषयमें रामचन्द्रके मनमें किस तरहके विचार आते थे यह बात यहां स्पष्ट हो गयी है। रामचन्द्रजी और भरतका संबंध १०।१२ वर्ष नहीं था, क्योंकि भरत मातामहके घरमें १२ वर्ष था। तथापि रामचन्द्रजीको भरतकी माता कैकेयी और उसके ज्ञातिबांधव कैसा बर्ताव करते थे उसका पता था, इस लिये उसको भरतके विषयमेंभी संदेह हुआ तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

दशरथ कैकेयीसे डरता था

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम्॥
(अयो. स. ५७।३१)

कौसल्या राजा दशरथसे बोली कि- 'हे राजन्! आप जिसके भयसे रामचन्द्रका वृत्त सारथीसे नहीं पूछते हैं, वह कैकेयी यहां नहीं है, इसलिये आप विना संकोच उसका वृत्त इस सारथीसे पूछ सकते हैं।'

इस वाक्यसे कौसल्याके मनके अन्दर जो भाव कैकेयीके विषयमें थे, अनायास प्रकट हुए हैं। इसमें कौसल्याका कोई दोष नहीं था, वहां वैसी ही परिस्थिति बन चुकी थी। कैकेयीसे वैसेही कष्ट कौसल्याको होते थे, इसलिये कौसल्या ऐसा बोल रही है। रामचन्द्रजीको इस सबका पता था, इसलिये उसने भरतके विषयमें भी संदेह प्रकट किया तो उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। कौसल्या तो इस परिस्थितिसे अत्यंतही दुःखी हुई थी, इसीलिये वह

अपने पतिको ऐसे शब्द सुना रही है। आगे बताया जायगा कि कौसल्याके सख्त बोलनेके कारण दशरथने तो उसके सामने हात जोडे थे, तब कौसल्या दुःखी भी हुई थी। इस सब वार्तालापसे राजमहलकी परिस्थिति कैसी थी, इसका ज्ञान होता है।

दशरथ कौसल्याके सामने हाथ जोडता है

वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ५
प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः ७
भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ८
सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ९
तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं श्रुत्वा दीनस्य भाषितम्।
कौसल्या व्यसृजद्बाष्पं प्रणालीव नवोदकम् १०
(अयोध्या. स. ६२)

राजा दशरथने कौसल्याका यह कठोर भाषण सुना, कांपते हुए हाथ जोडे और वह नीचा मुंह करके उससे बोला कि, 'हे कौसल्ये! मुझपर कृपा कर, तेरे सामने मैं हाथ जोडता हूं। तुझे मालूम है कि पति गुणवान् हो वा निर्गुण, वह धर्म जाननेवाली धर्मपत्नीके लिये प्रत्यक्ष दैवतही है। तुझे संसारकी भली और बुरी परिस्थितिका पता है, तथा तू स्वभावसे धर्मपरायण भी हो। मुझे भी अत्यंत दुःख हुआ है, यह तू जानती है, अतः ऐसी स्थितिमें मुझ दुःखीको और दुःख देना तुम्हारे लिये योग्य नहीं है।'

यह दशरथका भाषण सुनते ही कौसल्या अत्यंत दुःखी हुई और रो रो कर आंसू बहाने लगी। उसने राजासे क्षमाकी याचना की और अपनी भूल हुई, ऐसा कहा। इससे स्पष्ट है कि अत्यंत दुःख होनेके कारणही कौसल्याने राजाको ऐसे शब्द सुनाये थे। पश्चात्तापसे कौसल्याने और भी कहा—

याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया १२
नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या संप्रसाद्यते १३
(अयोध्या. स. ६२)

'मेरी प्रार्थना करना आपको आवश्यक हुआ है, इससे मेरा नाश ही हो चुका है। क्योंकि पतिने स्त्रीके सामने हाथ जोडना कदापि योग्य नहीं है। जो स्त्री पतिका प्रणाम उसके हाथ जोडनेके साथ स्वीकार करती है, वह दोनों लोकोंमें कभी श्रेष्ठ समझी नहीं जाती।'

ऐसा कहकर कौसल्याने दशरथकी क्षमा मांगी। कौसल्याको पुत्रवियोगका दुःख असह्य हो चुका था और कैकेयीका बर्ताव भी उनके साथ बडा बुरा था, इसीलिये वह ऐसा कठोर भाषण करके दशरथको दुःख देनेके लिये प्रवृत्त हुई। पर जब वह दुःखका आवेग दूर हुआ तब वह पतिकी क्षमा मांगने लगी, यह उसके सतीत्वका लक्षण है, इसमें संदेह नहीं है।

यह पति मेरा नहीं है

कौसल्या अत्यंत दुःखी होकर अपने पतिसे कहती है कि तुम मेरे नहीं हो—

त्वं मम नैवासि। (अयोध्या. स. ६१।२५)

'हे राजा! तूं मेरा नहीं है।' यहां तुम्हारा आश्रय वा आधार मुझे नहीं मिलता है, ऐसा भाव है, क्योंकि राजा सर्वथा कैकेयीके महलमें रहता था, उसके कहनेके अनुसार करता था, इसलिये पतिका जो आश्रय पत्नीको मिल सकता है, वह मुझे नहीं मिल रहा है। अर्थात् मैं निराधार हूं, ऐसा कौसल्या कहती है। इसका परिणाम आज ऐसा बना है—

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं
हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ॥
(अयोध्या. स. ६१।२६)

'हे राजन्। राष्ट्रका, राज्यका, सब प्रजाओंका और हम सबका विनाश हो चुका है। केवल (तुम्हारी प्रिय) पत्नी (कैकेयी और उसका) पुत्र (भरत) इनकोही आनन्द हो रहा है।'

इस स्थानपर दशरथको (तव भार्या) तेरी पत्नी और (तव सुतः) तेरा लडका ये शब्द क्रमशः कैकेयी और भरतके लिये कौसल्याने प्रयुक्त किये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कौसल्याके मनमें कितना जलन हो रहा था। पर यह सब पुत्रवियोगके असह्य शोकावेगके कारण हुआ था, इसमें संदेह नहीं है।

स्त्रीके आश्रय

स्त्री परतंत्र है। उसके लिये तीन आश्रयस्थान हो सकते हैं—

पतिरेका गतिर्नार्याः द्वितीया गतिरात्मजः।
तृतीया ज्ञातयो राजन् चतुर्थी नैव विद्यते ॥ २४
(अयोध्या. स. ६१)

'स्त्रीका पहिला आश्रय पति है, दूसरा आश्रयस्थान पुत्र है, तीसरा आश्रयस्थान ज्ञातिबांधव हैं, स्त्रीके लिये चौथा आश्रय नहीं है।'

स्त्री पूर्णतासे स्वतंत्र है, ऐसा उस समय कोई मानते नहीं थे। कौसल्याके लिये पतिका आश्रय नहीं था, वनमें जानेके कारण पुत्रका भी आश्रय नहीं रहा था, ऐसी शोकमय अवस्थामें वह इस समय पडी थी, इसलिये हताश होकर वह ऐसा बोल रही है। स्त्री कितना भी शान्त क्यों न हो, वह ऐसी भयानक परिस्थितिमें ऐसीही हताश होना स्वाभाविक है।

शहरसे बहिष्कृत करनेके कारण

अब भरतको कैकयीके कहनेसे मालूम हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीको नगरसे बाहर निकाल दिया है, तब उसे बडाही आश्चर्य प्रतीत हुआ। जिन दोषोंके कारण नगरसे बहिष्कृत होना संभव हो सकता है, वे कारण श्रीरामचन्द्रमें संभव होंगे, ऐसा उसका मन उसे कहता नहीं था। भरतके मतसे नगरसे बहिष्कृत होनेके ये कारण थे–

१ आढ्यो दरिद्रो वा अपापो हिंसितः (४४)= निष्पाप, धनी वा निर्धन मनुष्यका वध किया होगा।

२ ब्राह्मणधनं हृतं। (४४)= ब्राह्मणके धनका अपहरण किया होगा।

३ परदारान् अभिमन्यते। (४५)= परस्त्रीपर बुरी दृष्टि रखी होगी।

इस समय अपने राष्ट्को स्वतंत्र करनेकी हलचल करनेके कारण बहुतोंको कारावास और नगरसे बहिष्कृत करनेके दण्ड दिये जा रहे हैं। इसकी कल्पना तक भरतके मनमें नहीं थी। इस लिये भरत समझता है कि पापका आचरण करनेके कारणही नगरसे बहिष्कार होना संभव है।

कुछ पापोंकी गणना

रामचन्द्रजीको वनमें भेजनेके कार्यके साथ मेरा कोई संबंध नहीं है, जिसका संबंध होगा उसको ये पातक लगेंगे, ऐसा भरतने कहा। भरतके इस भाषणमें जो पापोंकी गणना की गयी है, उसमें ये पाप संमिलित हैं। (सर्ग ७५)

१ पापीयसां प्रैष्यं (११)- पापी लोगोंकी सेवा करना;

२ सूर्यं प्रति मेहतु (१२)- सूर्यके सामने मुख करके मूत्र करना,

३ कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यं अनर्थकम्। (१३)= बहुत काम करवाकर मालिकका मजूरको कम वेतन देना अथवा बिलकुल वेतन न देना,

४ हन्तु पादेन सुप्तां गां-सोयी गायको लाथ मारना,

५ परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत्। ततस्तु द्रुह्यतां पापं०। (१४)= प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेवाले राजाका जो द्रोह करता है। (इससे ऐसा अनुमान होता है कि जो राजा पुत्रवत् प्रजाका पालन नहीं करता, उससे विद्रोह करना पाप नहीं है, अपितु वह कर्तव्यही है।)

६ बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः। अधर्मः। (१५)= उत्पन्नका छठां भाग प्रजासे करभार लेनेपर भी जो प्रजाका पालन योग्य रीतिसे नहीं करता, वह राजा अधार्मिक और पापी होता है।

७ दक्षिणा देनेका वचन देकर, पीछेसे न देना, (२६)

८ युद्धे मा कार्षीत् सतां धर्मं। (२७)- युद्धमें जो सत्य धर्मका पालन नहीं करता,

९ आचार्यके द्वारा पढाये उत्तम शास्त्रका जो नाश करता है, (२८)

१० पायस, तिलोदक तथा बकरेका मांस दूसरेको न देते हुए खाना पाप है, (३०)

११ गुरुका अपमान करना,

१२ मित्रका द्रोह करना, (३१)

१३ विश्वासघात करके गुप्त बातको प्रकट करना, (३२)

१४ गुप्त रीतिसे दूसरेको न बताते हुए मिष्टान्नका सेवन करना, (३४)

१५ राजा, स्त्री बाल और वृद्ध इनका वध करना, (३७)

१६ सेवकोंको कारणके बिना छोड देना,

१७ लाख, मद्य, मांस, लोहा और विष इनका क्रय-विक्रय (करके नौकरोंका पोषण) करना, (३८)

१८ भागनेवाले शत्रुका वध करना, (३९)

१९ वल्कल धारण करके, हाथमें मिट्टीका पात्र लेकर भीख मांगते हुए उन्मत्तवत् घूमना, (४०)

२० मद्य, स्त्री और द्यूतमें आसक्त होकर कामक्रोधमें फंसना, (४२)

२१ कुपात्रमें दान देना (४२)

२२ सुबह शाम संध्या न करते हुए सौना, (४४)

२३ दूसरेके गृहादिको आग लगाना, गुरु-पत्नीके साथ गमन करना, मित्रद्रोह करना, (४५)

२४ माता, पिता और देवताओंकी सेवा न करना,(४६)

२५ सामर्थ्य होते हुए दीन याचकोंको कुछभी न देना, (५०)

२६ कपट, चुगली और अपवित्र आचार व्यवहार करना, (५१)

२७ ऋतुकालमें पतिकी इच्छा करनेवाली ऋतुस्नात स्त्रीके साथ गमन न करना, (५२)

२८ ब्राह्मणोंकी संततिका नाश करना, ब्राह्मण की पूजामें विघ्न करना,

२९ बछडेके लिये आवश्यक दूध न रखते हुए गौका दोहन करना, (५४)

३० धर्मपत्नीका त्याग करके परस्त्रीसे संबंध रखना (५५)

३१ पानीको खराब करना, दूसरेको विष देना, (५६)

३२ पानी पास होते हुए भी प्यासेको न देना (५७)

जिसकी अनुमतिसे श्रीरामचन्द्रजी वनमें गये हों उसको ये पाप लगेंगे, ऐसा भरतने कौसल्याके सामने कहा, तब कौसल्याको पता लगा कि भरत इस विषयमें निष्पाप है। भरतके विषयमें कौसल्याके मनमें संशय था, वह इस तरह दूर हुआ।

दशरथकी मृत्यु

हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसिनि ७६
इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ७७
(अयोध्या. स. ६४)

ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम्।
सुप्तमेवोद्गतप्राणं अन्तःपुरमदृश्यत १०
तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने।
कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः ११
कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
हा भर्तेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले १३
ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियाः।
रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचेतनाः १६
(अयोध्या. स. ६५)

' हे पापिनी कुलघातकी कैकेयी ! हे मेरे शत्रुरूपिणि ! ऐसे शब्द उच्चार करता हुआ, रोने पीटने चिल्लाने और शोक करनेकी अवस्थामें राजा दशरथ कौसल्या तथा सुमित्राके समीपवर्ती स्थानमें मृत्युके वश हो गया। इस समय कौसल्या और सुमित्रा अतिशोकके कारण निद्रित हो गयी थीं, इस कारण दशरथके प्राण चले गये हैं, इसका उनको भी पता नहीं लगा था। अन्तःपुरकी स्त्रियोंने राजा मर चुका है ऐसा मालूम होतेही रोने पीटनेके लिये प्रारंभ किया, तब उस आक्रोशके शब्दसे कौसल्या और सुमित्राको जाग आयी, तब उनको पता लगा कि राजा गतप्राण हुआ है। यह समझतेही ' हे नाथ ! ' ऐसा चिल्लाते हुए शोक करके मूर्च्छासे भूमिपर गिर गयीं। इसके पश्चात् कैकेयी और अन्य राणियां वहां आगयीं और वे सब भी अत्यंत शोक करने लगीं। '

राजा दशरथ सार्वभौम सम्राट् था। परंतु उसकी मृत्युके समय अर्थात् प्राण जानेके समय उसके पास देखनेके लिये भी कोई जागता हुआ आदमी वहां नहीं था। कौसल्या और सुमित्रा पतिसेवामें तत्पर थीं, पर राजाका प्राण मध्यरात्रिके समय गया, उस समय शोकातिरेकसे आयी थकावटके कारण वे निद्रित थीं। दशरथके प्राण चले जानेके पूर्व कौसल्या और सुमित्रा जो सो गयीं वे सबेरे जाग उठीं अर्थात् राजाका प्रेत प्रायः ४-६ घण्टे वैसाही वहां पडा रहा। कोई देखनेके लिये भी वहां न था।

कैकेयी तो मृत्युके समय वहां थीही नहीं। सब अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंका शोकका आक्रोश सुनकर वह वहां

आगयी। तब तक कैकेयी अपनेही महलमें सोती रही थी। उसने इन पांच या छः दिनोंमें राजाकी खबर भी नहीं ली थी।

राजाका सिर

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २

(अयोध्या. स. ६५)

'शोकसे जर्जरित हुई कौसल्याने राजाका मस्तक आपकी गोदमें लिया और वह कैकेयीसे बोली।' राजाका मृत्यु होकर ४-५ घण्टोंके बाद कौसल्याने राजाका मस्तक अपनी गोदमें लिया है, जो मृत्युके समय किसीको विशेषतया पुत्रको लेना चाहिये था।

इसके पश्चात् कौसल्याने कैकेयीकी बहुत निंदा की। 'राजाका वध करनेके पश्चात् अब तू निष्कंटक राज्यका उपभोग लेती बैठ। अब अपने जो चाहे सो मनोरथ पूर्ण कर ले। अपने पतिका वध करके कैकेयीके विना दूसरी कौन स्त्री भला इस तरह जीवित रह सकेगी?' (अयोध्या. ६६।३-५)

ब्रह्महत्याका पाप

श्रावण दशरथ राजासे बोले—

ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम् ॥ ५०
न द्विजातिरहं राजन् मा भूत्ते मनसो व्यथा।
शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप ॥ ५१

(अयोध्या. स. ६३)

'मेरे वधसे तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगेगा। इस विषयमें तुझे डर खानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं शूद्रा स्त्रीके पेटमें वैश्यसे उत्पन्न हुआ हूं। मैं द्विजाति नहीं हूं, मैं ब्राह्मण नहीं हूं।'

जिस समयका यह इतिहास है उस समय ब्राह्मणका वध बडा पाप और तापदायक है, ऐसा समझा जाता था। इसलिये श्रावणका वध होनेसे ब्राह्मणकी हत्या हुई, ऐसा माननेका कारण नहीं, ऐसा उस कुमारने दशरथको समझा दिया। क्यों कि वह शूद्रीका पुत्र था और वैश्यसे उत्पन्न हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय ब्राह्मण जातिके विषयमें परम आदर था। उस समय ब्रह्महत्या महापातक समझा जाता था। जातिसे ब्राह्मण्य माननेके समयही ऐसी कल्पना हो सकती है। यदि गुणकर्मसे ब्राह्मण्य होता, तो वह मुनिहत्या तो होही चुकी थी। पर गुण-कर्मसे ब्राह्मण्य माननेका वह समय नहीं था। तथा गुणकर्मकी परीक्षा करना और ब्राह्मण्यका निश्चय करना यह एक न समझनेवालाही कार्य है।

मुनिका शाप

एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसि ॥ ५४
अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥ ५५
त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम् ॥ ५६

(अयोध्या. स. ६४)

'हे राजन्! तेरी भी मृत्यु इसी तरह पुत्रके शोकसेही होगी। तुमने यह वध न जानते हुए किया है, इसलिये तुझे ब्रह्महत्याका पातक नहीं लगेगा। पर जैसी हमारी मृत्यु पुत्रशोकसे हो रही है, वैसाही तुम्हारी भी मृत्यु पुत्र-शोकसेही होगी।'

किसीको निष्कारण बहुत दुःख हुआ, तो वह जो शाप-वाणी बोलता है, वैसा ही बनता है। ऐसा ही यहां हुआ।

छोटी आयुमें किया पाप

कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम्।
देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम् ॥ १३

(अयोध्या. स. ६३)

'हे कौसल्ये! तुम्हारे साथ मेरा विवाह भी नहीं हुआ था, मैं कुमार अवस्थामें था, तब मैं शब्दवेध करनेमें प्रवीण था। उस युवराज अवस्थामेंही यह पाप मुझसे हुआ था।'

यह पाप श्रावणका वध ही है। श्रावण अपने अन्धे और वृद्ध माता-पिताओंके लिये जल लानेके लिये नदीपर गया था। वहां वह कमण्डलुमें पानी भर रहा था, उस जलमें कमण्डलु डुबानेका जो शब्द हुआ, उसे दशरथने सुना।

दशरथको वह शब्द हाथीके पानी पीने वैसा प्रतीत हुआ। हाथी समझकर राजाने बाण चलाया, वह बाण श्रावणके मर्मपर लगा, उस कारण वह मरा। तब श्रावणके माता-पिताओंने राजाको ऐसा शाप दिया कि ' हे राजन्! तू भी हमारे जैसाही पुत्रशोकसे मरेगा।'

इस पूर्व वृत्तका स्मरण राजाको इस समय हुआ और वह इस समय बोल रहा है कि ' इस पूर्व समयमें किये पापका फल आज मुझे मिल रहा है।'

जिस समय श्रावणका वध हुआ, उस समय दशरथ कुमार था, युवराज था। उसका विवाह भी नहीं हुआ था। इस कारण दशरथको इस शापसे आनन्द हुआ ऐसा जो कई ग्रंथोंमें लिखा है, वह अशुद्ध है, ऐसा दीखता है। विवाहके पूर्वका यह अपराध है, उस समय राजाको पुत्र न होनेका दुःख होना संभवही नहीं है। अर्थात् पुत्र-शोकसे मृत्यु होनेका शाप सुननेसे, पहिले पुत्र होगा, पश्चात् उसका शोक होगा, ऐसा मानकर पुत्रहीन राजाको यह शाप सुखकारक हुआ, ऐसा जो कहते हैं, वह सब कल्पना मात्र है, इसमें सचाई नहीं है, यह यहां स्पष्ट हुआ है।

वानप्रस्थी व्रतीका वध

वानप्रस्थाश्रममें रहनेवाले व्रतीका वध करनेसे राजाका नाश होता है, ऐसा श्रावणका पिता कहता है—

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ १३
सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।
ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ १४
अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे।
(अयोध्याकांड सर्ग ६४)

' यदि क्षत्रियने जानबूझकर वानप्रस्थी मुनीका वध किया तो वह राजा अपने स्थानसे पदच्युत होगा, उसके सिरके टुकडे टुकडे हो जायंगे। तुमने यह वध न जानते हुए किया है, इसलिये जी रहे हो।'

ऐसा श्रावणके पिताका वचन है। मुनिका वध हुआ, तो राजाको इतना बडा भय प्राप्त होता है। इससे उस समय राजाकी शक्ति कम थी और ऋषि मुनि व्रतीकी संघटना अच्छी थी यही निश्चित होता है।

अराजक राष्ट्र

राष्ट्रमें अराजकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अराजक अवस्था राष्ट्रकी हानि करती है। इस विषयमें इस रामायणके अयोध्या-काण्डके ६७ वें अध्यायके विधान विशेष ध्यानसे देखने योग्य हैं। उनमेंसे कुछ नमूनेके लिये देखिये—

१. अराजक राष्ट्रका नाश होता है (८)

२. राष्ट्रमें अराजकता हुई तो कोई भी थोडासा भी धान भूमिमें बोना नहीं चाहता। इससे किसीको खानेके लिये अन्न नहीं मिलता। (१०)

३. अराजकता होनेपर न पुत्र पिताकी आज्ञामें रहता है तथा स्त्री पतिकी आज्ञामें रहती है। अराजकतामें किसीका धन सुरक्षित नहीं रहता (११)

४. अराजक देशमें व्यापारधंधा ठीक नहीं चलता (१३)

५. अराजक देशमें परिषदें नहीं होती, रमणीय उद्यान नहीं होते, तथा यज्ञ-याग भी नहीं होते (१४)

६. अराजक देशमें राष्ट्रका संवर्धन करनेवाले महोत्सव नहीं होते तथा किसी संघटनाकी उन्नति भी नहीं होती (१५)

७. अराजक देशमें देशदेशान्तरका व्यापार-व्यवहार नहीं होता। (१६)

८. अराजक देशमें सुवर्णालंकार धारण करके कुमारिकाएं उद्यानोंमें सायंकाल खेलकूद और भ्रमणादिके लिये नहीं जा सकती। (१७)

९. किसान वा अन्य कोई रातके समय अपने घरके द्वार खुले रख कर अराजक देशमें नहीं सो सकते (१८)

१०. अराजक देशमें स्त्री-पुरुष वेगवान् यानोंमें बैठकर दूरतक भ्रमण करनेके लिये नहीं जा सकते। (१९)

११. अराजक प्रदेशमें मुनि संचार नहीं करते, क्योंकि किसीका योगक्षेम वहां चलता नहीं। (२३-२४)

१२. अराजक देशमें किसीका भी जीवन और धन सुरक्षित नहीं रहता। वहांके लोग मछलियोंके समान एक दूसरोंको खाते रहते हैं। (३१)

राष्ट्रमें नियमन और शासन करनेवाली संस्था अवश्य चाहिये, यही इसका तात्पर्य है। यह संपूर्ण अध्याय राष्ट्रकी सुव्यवस्थाकी दृष्टिसे विचारपूर्वक देखना चाहिये। यह अध्याय बहुतही मनन करने योग्य है।

जनसंमत राजा

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम्।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् १८
असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात्।
जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ३०
अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ३१
सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रते।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ३२
सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्।
सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ३३
(अयोध्या. स. ५८)

राजपुत्र लक्ष्मण कहता है—

१. श्रीरामचन्द्रको लोभसे अथवा वरदानके कारण वनमें भेजा होगा, तो वह नितान्त अयोग्य है।

२. क्षुद्र बुद्धिसे किया हुआ यह कार्य महा शोकके लिये कारण होगा।

३. दशरथ राजासे अब मेरा पितृत्वका संबंध रहा नहीं है।

४. मेरा भाई, पोषणकर्ता, बन्धु और पिता रामही है।

५. जनताका हित करनेवाले लोकप्रिय रामचन्द्रको नगरसे बहिष्कृत करके जनताकी प्रीति राजाके लिये कैसी प्राप्त होगी ?

६. सब जनताके लिये प्रिय रामचन्द्रको वनमें भेजकर और इस कारण सब जनताका विरोध करके कौन भला राजा हो सकता है ?

इस लक्ष्मणके कथनमें यह स्पष्ट कहा है कि जनताकी अनुकूलताके विना कोई भी राजा नहीं हो सकता। जनताकी संमतिसेही कोई भी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है। जनतामें स्वभावतः यह शक्ति है, यह लक्ष्मणको पता था। इसी लिये वह कहता है कि जनताकी प्रीति रामचन्द्र पर है, वैसी भरतपर नहीं है, इस कारण दशरथ वा भरत इनमेंसे कोई भी राजा नहीं हो सकता। इस लक्ष्मणके कथनमें एक अटल राजनैतिक सिद्धान्त कहा है।

दशरथके साथ उसका पितृत्वका संबंधभी तोडनेके लिये वह तैयार हो चुका था। इतना इस समय लक्ष्मण क्रोधके अधीन हुआ था। इसलिये यदि लक्ष्मण अयोध्यामें रहता, तो भरत सुखसे राज्य कर सकता था, ऐसा दीखता नहीं।

राजाका प्रेत

दशरथकी मृत्यु होनेके समय उसकी ओर देखनेके लिये वहां कोई भी नहीं था। इतनाही नहीं, परंतु उसका प्रेत-संस्कार मृत्युके पश्चात ७ वें दिन हुआ था। देखो—

व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः १३
तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् १४
न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः।
सर्वज्ञाः कर्तुमीयुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् १५
तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्।
(अयोध्या. स. ६६)

' राजाकी मृत्यु होनेके पश्चात् व्यवहारकुशल मन्त्रियोंने कौसल्याको वहांसे दूर करके राजाका प्रेत तेलकी कढाईमें रख दिया। पश्चात् वसिष्ठ आदि ऋषियोंकी आज्ञासे करने योग्य प्रेत-कर्म किये गये। पुत्रके विना प्रेत-संस्कार करना योग्य नहीं है, ऐसा उन्होंने ठहराया। इसी लिये भरतके आनेतक राजाके प्रेतको तेलकी कढाईमें रख दिया और उसका संरक्षण करनेका प्रबंध भी उन्होंने किया।'

भरतको बुलाया

दशरथ राजाका प्रेत तेलकी कढाईमें रख दिया और वह न सडे इसका तथा उसकी सुरक्षाका प्रबंध कर दिया। पश्चात् वसिष्ठ आदिकोंने भरतको बुला लानेका निश्चय किया। उसको बुलानेके लिये दूत भेजे और उनके साथ बडे बडे उपहारके रूपमें बहुतसी सुयोग्य सामग्री भेजी। वे दूत केकय देशमें गये। पर सब दूतोंसे यह कहा गया था कि राजाकी मृत्यु और रामका वनवास आदि खबर किसीसे नहीं कहना। उपहारोंको दूतोंके साथ भेजनेका तात्पर्य इधर सब कुशल है, ऐसाही होता है। बहुतही आवश्यक

कार्य उत्पन्न होनेके कारण भरतको बुलाया है, ऐसाही संदेशा दूतोंके साथ दिया गया था।

छोटी छोटी बातोंमें कितनी सावधानता रखनी पडती है, सो यहां पाठक देखें। भरत अयोध्यामें आनेतक भरतको तथा केकय देशमें किसीको दशरथकी मृत्युकी खबर नहीं थी। इतनी यह मृत्युकी खबर गुप्त रखी गयी थी।

इसका कारण भी वैसाही था। यदि इसी समय दशरथ की मृत्युकी खबर फैल जाती तो कोई शत्रु आक्रमण करता, अथवा केकय राजा भी भरतको राज्यपर बिठलानेके लिये सेनाके साथ आजाता। इस आपत्तिको टालनेके लिये राजाकी मृत्युकी खबर अत्यंत गुप्त रखी गयी थी। दशरथनेभी भरतको न बुलाकर अथवा केकयराजको निमंत्रण न देकर एकदम रामचंद्रजीको यौवराज्याभिषेक करनेकी शीघ्रता की थी। इसका संबंध जोडनेसे मृत्युकी गुप्तता रखनेका कारण स्पष्ट दीखने लगता है।

भरतके आनेका मार्ग

१. राजकुमार भरत अपने गामाके महलसे अयोध्याको पहुंचनेकी इच्छासे पूर्व दिशाके मार्गसे चल पडा,

२. वहांसे वह सुदामा नदीपर पहुंचा,

३. पश्चात् वह विस्तृत और विशेष फैली ह्लादिनी नदीपर आया,

४. वहांसे भरत शतद्रु नदीपर आया,

५. पश्चात् वह ऐलधान ग्रामके पास पहुंचकर अमरपर्वत के समीप पहुंचा,

६. नंतर वह शिला नदीको लांघकर आगे बढा, वहांसे आग्नेयी दिशासे शल्यकर्षण प्रदेशमें पहुंचा।

७. इसके बाद वह शिलावहा नदीमें स्नान करके चैत्ररथ नामक वनमें पहुंच गया,

८. पश्चात् गंगा और सरस्वतीके संगमपर पहुंच कर उसने वहां स्नान किया,

९. नंतर वीरमत्स्यदेशकी उत्तर दिशामें पहुंचकर भारुंद वनमें पहुंच गया,

१०. पश्चात् कुलिंगा नदीके पार जा कर यमुनाके तटपर आगया और वहां उसने अपने सैनिकोंको विश्राम करनेके लिये कहा,

११. इसके बाद वह घने वनसे पार होकर अंशुधान ग्रामके पास पहुंचा, प्राग्वट नगरके पासके प्रदेशको पार करके सेनाके साथ गंगाके पार हुआ, वहांसे वह धर्मवर्धन ग्रामको पहुंचा,

१२. वहांसे वह तोरण ग्रामके दक्षिण दिशामें अवस्थित जंबुप्रस्थ नामक नगरके पास पहुंचा, वहांसे वह वरूथ नगरीके पास गया और वहांसे रम्य वनको लांघकर उज्जिहान नगरीको पहुंचा।

१३. वहांसे अपनी राजधानी अयोध्या पास है, ऐसा देखकर उसने वेगवान् घोडे अपने रथको जोड दिये, और अनुयायियोंको शनैः शनैः आनेके लिये कहकर, स्वयं जल्दी पहुंचनेकी इच्छासे वेगसे आगे बढा,

१४. आगे सर्वतीर्थ ग्राममें थोडा विश्राम करके, अनेक नदियोंको लांघकर हस्तिपृष्ठ ग्रामके पास कुटिका नदीके पार हुआ,

१५. पश्चात् लौहित्य ग्रामके पास कपीवती, एकसाल ग्रामके पास स्थाणुमती और विनत ग्रामके पास गोमती नदीको लांघकर भरत आगे चलने लगा,

१६. नंतर कलिंग नगरके पासके सालवनके पास पहुंचकर, रातही रातमें उसने वह वन लांघ दिया और सबेरे अरुणोदयके समय उसने अयोध्या नगरीका दर्शन किया,

१७. थोडेही समयमें उसने अयोध्यामें प्रवेश किया। (अयोध्या. स. ७१)

केकय देशसे चलकर अयोध्याको पहुंचनेके लिये भरत को (सप्तमी रात्रिः। अयोध्या. स. ७१।८) सातवीं रात्रि आ गयी अर्थात् इसका मार्ग सात दिनोंका था। रथके घोडे अधिकसे अधिक दिनमें ३०।४० मैल जाते हैं, ऐसा माननेसे केकय देशसे अयोध्यातक जाने आनेका अन्तर दो ढाई सौ मील अधिकसे अधिक होगा, ऐसा अनुमान हो सकता है।

सूतने चार दिन राह देखी थी

श्रीरामचन्द्रको गंगा-तीरपर पहुंचानेके बाद वह गंगापार होकर वनमें चल गया। सूतने समझा था कि श्रीरामचन्द्रजी वनवाससे तंग आकर वापस चले आयेंगे और तब मैं उनको वापस ले जाऊंगा। इस इच्छासे वह वहीं चार दिन रहा। (क्रमशः)

सन १९४६ का कैलेंडर

श्री. ना. स. भाटवे सन १९४६ का कैलेंडर	जानेवारी ऑक्टो- बर	मे	ऑगस्ट	फेब्रुवारी मार्च नोव्हेंबर	जून	सप्टेंबर डिसेंबर	एप्रील जुलई
१ ८ १५ २२ २९	मंगल-	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम
२ ९ १६ २३ ३०	बुधवार	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगल
३ १० १७ २४ ३१	गुरुवार	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगल	बुध
४ ११ १८ २५	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु
५ १२ १९ २६	शनिवार	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र
६ १३ २० २७	रविवार	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
७ १४ २१ २८	सोमवार	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.